सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर, अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ई १९७७

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सैंवाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या लेख	लेखक	पृष्ठ
१. अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
२. वर्ण-धर्म	श्री बाबूलाल अंजना	६
३. ध्यान-योग और ज्ञान-योग की प्रक्रिया	श्री विनोबा भावे	१६
४. योग की प्राचीनता और प्रामाणिकता	श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह	१७
५. योग-प्रवृत्ति	स्व० ब्र० श्री जगन्नाथ	२३
६. योगेश्वर श्रीकृष्ण के दिव्य-सन्देश	श्री गौरीशंकर द्विवेदी	२५
७. उठो सवेरा हो गया	आचार्य श्री यशोदर्शन	२८
८. हमारा भोजन ही औषधि है	श्री कुलरञ्जन मुकर्जी	३१
९. उपदेश का पात्रत्व	श्री शिवनारायण	३३
१०. दस दोहे (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	३५
११. विवेक का आश्रय	साधुवेश में एक पथिक	३६
१२. सहज समाधि की उपलब्धि	श्री डा० विजयसिंह	३८
१३. क्रिया योग	श्री गिरीशदेव शर्मा	४२
१४. योगिराज श्री गम्भीरनाथ	श्री डा० विष्णुदत्त शर्मा	४७
१५. योगसाधना क्यों और कैसे ?	श्री पूर्णचन्द्र पंत शास्त्री	५५
१६. योग-विज्ञान द्वारा कामना-पूर्ति	श्रीमती सरिता चन्द्रहास शर्मा एम० ए०	६२
१७. साधना में आनन्द	श्री मुरारीलाल शर्मा	६६
१८. योग की आधार-शिला ब्रह्मचर्य	श्री किशोरीलाल शास्त्री	७०
१९. माया नगरी	श्री देवीप्रसाद 'दिव्य'	८३
२०. योगीश्वर अवस्था निरूपण	श्री पन्त महाराज	८५
२१. पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	संकलित	८७
२२. योगेश्वर चरित्र माला	योग-प्रशिक्षण केन्द्र सार्वाई	८९

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १·५० पैसे विशेषांक का मूल्य २ रु०

संयुक्त सम्पादक
दिव्य
फोन ६३१६८

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्ध योग

वर्ष १०
अङ्क १

अप्रैल
१९७७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तन्त्राण्यन्यानि बहूनि वदन् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

❀ वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ❀

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं,
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता,
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

अर्थात्

भगवान् शंकर में भक्ति हो, संसार में जन्म लेने और मरने का हृदय में भय न होता हो, अपने भाई-बन्धु और रिश्तेदारों में प्रेम न हो, संसर्ग दोष से रहित निर्जन वन में निवास हो, मन में काम जन्य विकार न हो तो इससे बढ़कर प्रार्थनीय और दूसरा वैराग्य ही कौन है ?

हमारा विशेष लेख—

अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज]

हमारे उच्चतम विज्ञानवेत्ता सभी ऋषि-मुनियों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता को गा गा करके बतलाया है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि-आदि उच्चतम सन्तोंने अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को समझा-समझा कर कहा, किन्तु मन्द प्रारब्धवश इस उच्चतम चेतावनी को कोई भी समझ नहीं पाता। संसार में मानव जन्म-धारी प्रत्येक प्राणी मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर उन्मत्त दिखलाई दे रहा है। परम विरक्त सन्त श्री भर्तृहरि जी ने संसार की इस दशा को देखकर अपने हार्दिक उद्गार निम्नाङ्कित श्लोक में कितने अच्छे ढंग से कहे हैं। पढ़ने से मालूम पड़ता है कि कलिकाल में मन्द प्रकृति वाले मनुष्य की कैसी उन्मत्त दशा चल रही है।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः
संक्षीयते जीवितं ।
व्यापारैर्बहु कार्यभार गुरुभिः
कालो न विज्ञायते ॥
ज्ञात्वा जन्म जरा विपत्ति मरणं
त्रासश्च नोत्पद्यते ।
पीत्वा मोहमयी प्रमाद मदिरां
उन्मत्त भूतं जगत् ॥

अर्थात् रोज-रोज सूर्य के निकलने और छिप जाने से आयु का एक-एक दिन क्षीण होता जा रहा है। व्यापार और कार्यभार की अधिकता से समय का ज्ञान नहीं हो पाता। रोज-रोज मनुष्य जरा जन्म-मरण की सूचनायें पाता रहता है किन्तु फिर भी मन में कुछ भय उत्पन्न नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर मनुष्य पागल-सा हुआ घूम रहा है। यही कारण है अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म मदान्धों की तरह बीतता चला जा रहा है। किन्तु इसकी दुर्लभता की चेतावनी का स्मरण किसी को भी हो नहीं पाता।

मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ क्यों ?

हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय के पाँचवें और छठे श्लोक में एक सिद्धान्त का निरूपण किया है। जो इस प्रकार है—

अन्त काले च मामेव,
स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति,
नास्त्यत्र संशयः ॥
यं यं वापि स्मरन्भाव,
त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भाव भावितः ॥

अर्थात् अन्तिम समय में मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर त्यागता है वह मेरे को पा जाता है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित सिद्धान्त की बात बतला दी कि अन्तिम समय में जिन जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है उन उन भावों की प्रेरणा से ही ही वह मनुष्य वैसी वैसी गति को प्राप्त हो जाया करता है इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रख करके भगवान अर्जुन को यह आदेश भी देते हैं कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु,
मामनुस्मर युध्य च ।

अर्थात् उपरोक्त सिद्धान्त पर नजर रखते हुये हे अर्जुन ! तू हर समय मेरा स्मरण करता हुआ लड़ाई कर। ताकि प्राण वियोग का कोई समय आ भी जाय तो अन्तिम मति के अनुसार तू मुझको पा जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम क्षणों में जिन जिन भावों का स्मरण करते हुए मनुष्य शरीर छोड़ता है वैसी ही गति को पा जाना उसके लिए अनिवार्य है। हमारे प्राचीन इतिहास में उदाहरण रूप से इस प्रकार की अनेक घटनायें भी मिलती है। श्रीमद्भागवत पुराण में महामुनि जड़ भरत का उपाख्यान मिलता है वह एक महान तपस्वी योग-ध्यान-परायण मुनि थे। उन्होंने आश्रम में एक मृग के बच्चे को पाल लिया, जिसका परिणाम यह निकला कि अन्तिम प्राण प्रयाण के समय भी उनको उस मृग-बच्चे की याद आती रही जिससे वह मृगी के पेटमें आ गिरे। जिसका उनको बड़ा भारी दुःख हुआ और उसका कारण अन्तिम समय में मृग-बच्चे का चिन्तन ही समझा। इसी दृढ़ धारणा को लेकर उन्होंने शुभ गति पाने के लिए अपने मृग-शरीर का परित्याग कर दिया।

एक और सच्ची घटना

आदरणीय ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी महाराज मेरे बड़े गुरु भाई थे, वे ऊँची स्थिति के महात्मा थे। उनको अपने ध्यान-योग के प्रभाव से अतीतानागत ज्ञानकी योग्यता थी। एक बार उनके मन में विचार पैदा हुआ कि वह अपनी माता की गति को जानें उनका जन्म कहां हुआ है, इन्हीं भावों का चिन्तन करते हुए वे ध्यानस्थ हो गये। ध्यानलीन हो जाने के बाद वह अपनी आंखों के सामने देखते है कि किसी मछियारे की छोटी लड़की कुछ मछलियां हाथ में उठाये जा रही है।

ज्योंही उन्होंने इस बालिका को देखा, त्योंही ध्यान में ही आकाशवाणी हुई कि बेटा ! यह तेरी माँ है, इनको देख ले। यह सब दृश्य देखकर श्री ब्रह्मचारी जी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मेरी माता की ऐसी गति क्यों हुई ? उन्होंने ध्यानाभ्यास से उठकर अपना यह सब अनुभव प्रसाद में श्री प्रभुजी के चरणारविन्द में (योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के चरणकमल में) निवेदन किया कि मैंने अपनी माता की ऐसी गति देखी है, ऐसा क्यों ? श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि हमें क्या पता, तेरी माताको अन्तिम समय में मछलियों का स्मरण आया होगा। इस विषय में तुम अपनी बहन रुक्मिणीदेवी से पूछो कि तुम्हारी माता की मृत्यु किस रोग से किस कारण से हुई थी। उससे तुम्हें पता चल जायेगा कि उनका अन्तिम चिन्तन क्या रहा था, जिसके कारण उनका जन्म मछियारे के घर में हुआ। श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी बहन रुक्मिणीदेवी से जाकर पूछा कि बहन ! माँ की मृत्यु कैसे हुई थी ? उसने उत्तर दिया कि भाई ! मृत्यु काल में माँ के पेट में बड़ा भारी अफारा (उदराध्मान) हो गया था, उसके बाद हम लोगों ने बड़े-बड़े इलाज कराये, किन्तु उनसे किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक डाक्टर ने बतलाया कि यदि इनको मछली का तेल पिला दिया जाय तो इनके पेट का तनाव कम हो जायगा और जीवन बच सकता है। डाक्टर के ऐसे आदेश को पाकर मछली का तेल लाने के लिए काफी कोशिश की गई, किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। वह बार-बार मछली के तेल को याद करती रही एवं उसी चिन्तन में उसके प्राण निकल गये। श्री ब्रह्मचारी जी को समझ में आ गया कि बात ठीक ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं,
त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय,
सदा तद्भाव भावितः॥

हमारा यह मनुष्य लोक रजोगुण प्रधान है। मनुष्य अपना सारा जीवन इधर-उधर के कार्य-कलापों में व्यतीत किया करता है। शरीर जर्जरीभूत हो जाता है, नाड़ियाँ फूल जाती हैं। प्रायः हर व्यक्ति का अन्तिम समय बहुत ही दुःखमय होता है। प्राणों के निष्कासन के समय वह केवलमात्र दुःख का ही चिन्तन करते हुए देहत्याग करता है। अन्तिम समय कष्ट होना पाप-कर्म का भोग होता है। क्लिष्ट संस्कारोंके भोग-भोगते हुए क्लेशात्मक चिन्तनों के कारण वह इस मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःख देने वाली निकृष्ट योनियों को प्राप्त हो जाता है। यह सबकी-सब भोग योनियाँ हैं। शुभ चिन्तन का उन योनियों में मौका ही कहाँ हो सकता है। अतः एक योनि छोड़कर, दूसरी-दूसरी छोड़कर तीसरी, इसी प्रकार क्रमशः भोग योनियाँ प्राप्त होती रहती

है। बहुत ही कठिनता के साथ पुनः कोई पुण्य काल का समय उदय होता है तो मनुष्य जन्म मिल पाता है। कैसा मिलेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। मनुष्य जन्म मिल गया, किन्तु मिला किसी हत्यारे के यहाँ—शराबी-कबाबी के यहाँ, चोर और डाकुओं के यहाँ तो उस मनुष्य जन्म का क्या फायदा। अथवा मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने के बाद कोई घोर रोग लग गया, तो भी क्या लाभ? उत्तम बात तो यही है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं,
यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता,
यावत्क्षयो नायुषः॥
आत्मश्रेयसि तावदेव,
विदुषा कार्यं प्रयत्नो-
महान्प्रोद्दीप्ते भवने च कूप,
खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात् जब तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है। इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है एवं आयु क्षीण नहीं हुई है, तब तक अपने भले का प्रयत्न कर लेना चाहिए। घरमें आग लग जानेके बाद कुआ खोदने का पुरुषार्थ व्यर्थ है। अतः मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझे और जो भी वह शुभ कर्म कर सकता हो करे। मनुष्य जन्म-कर्म योनि है, इसमें कर्म किया जा सकता है। अन्य सब भोग-योनि हैं, उनमें अपने भविष्य निर्माण के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। अतः मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझ कर अपने भले के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। एक प्रकार का यह मनुष्य जीवन परीक्षा भूमि है। परीक्षा पत्र अच्छे हो गये, तो परिणाम शुभ हो जायेगा। अतः मनुष्य जन्म दुर्लभ की चेतावनी को स्मरण रखना चाहिए।

सूक्ति-सुधा— सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः॥

सत्सङ्ग और विवेक—ये मनुष्य के दो निर्मल नयन हैं। जिसके ये नयन नहीं हैं, वह मनुष्य अन्धा है। (ऐसी अवस्था में) वह सत्संग और विवेक रूपी नयनों से हीन मनुष्य) क्यों न कुमार्गगामी बने?

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥
स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति सुरेश्वरि॥

हे देवि! इस संसार में आकर यह प्राणी जितने अपने प्यारे (रिश्ते-नाते) सम्बन्ध बनाता है, उतनी ही उसके हृदय में शोक रूपी कीलें ठोंकी जाती हैं, क्योंकि यह जीव तो अन्त में अपने शरीर को भी छोड़कर चला जाता है। —कुलार्णव-तन्त्र

महाकवि कालिदास की नाट्यकृतियों में प्रतिबिम्बित—

वर्ण-धर्म

[श्री बापूलाल आंजना, प्रवक्ता संस्कृत-विभाग म० नें० स्मा० डिग्री कालेज गोरखपुर]

महाकवि के युग तक आते-आते वर्ण-धर्म बहुत कुछ शिथिल हो गया था तथापि वर्ण चतुष्टय की शृङ्खला भारतीय समाज को अपने शक्तिशाली बन्धन में आबद्ध किये थी। नाटकों में आये चतुर्णां वर्णानाम्,१ वर्णेभ्यो,२ वर्णाश्रमानाम्, वर्णानाम्३ आदि शब्द-प्रयोग तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के स्थिर व नियत स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। राजा वर्ण-व्यवस्था का रक्षक४ व चारों वर्णों का अभय प्रदाता था।५ राजाओं के समुचित अवेक्षण के कारण प्रजाजन अपने वर्ण-धर्म का पालन करते थे और निकृष्टतम वर्णभी अधर्म (अपथ) से बचने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता था।६

ब्राह्मण—

वर्ण क्रम की दृष्टि से तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों का प्रथम स्थान था। क्षत्रिय वैश्य व शूद्र ये तीनों वर्ण ब्राह्मण की सदाशिता पूजा एवं अभ्यर्चना करते थे। राजा विशिष्ट ब्राह्मणों के सत्कारार्थ आसन से उठ जाया करते थे। राजा दुष्यन्त आसन छोड़कर अग्निगृह में कण्व-शिष्यों की प्रतीक्षा करते हैं।७ राजा अग्नि-मित्र आचार्य व हरदास को देखकर उन्हें आदर पूर्वक स्थान देता है।८

दैनिक जीवन में ब्राह्मणों को तो प्राथमिकता दी जाती थी। वे ही बड़े-बड़े राजकीय यज्ञों व अभिषेक-समारोहों को संपन्न करवाते थे।

---

१. चतुर्णां वर्णानामभयमिव……। प्रतिमा ४.७
२. यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो……। अभि० शा० २.१३
३. वही, २.१०, पृ० २८७
४. वही पृ० २८७
५. प्रतिमा, ४.७
६. न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते। अभि० शा० ५.१०
७. अभि० शाकु० ५ पृ० २८७
८. स्वागतं भवद्भ्याम्।……आसने तावदत्र भवतोः। माल० १

तत्कालीन राज्यव्यवस्था में पुरोहित को ऊँचा स्थान दिया जाता था। पौरोहित्य-पद परम्परागत होता था।

इक्ष्वाकु वंश के परम्परागत पुरोहित वसिष्ठ वंशी ब्राह्मण थे। राजा दशरथ अपने पुरोहित वसिष्ठ से परामर्श किये बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं करते थे। धर्मातत्मज्ञ राजा दुष्यन्त शकुन्तला के प्रत्याख्यान के महत्वपूर्ण प्रश्न पर अपने पुरोहित सोमरात से विचार विमर्श करता है।१

वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भ से ही वेदों के अध्ययन-अध्यापन (स्वाध्याय) और तपस्या ब्राह्मणों के मुख्य कर्म रहे हैं। इन्हीं गुणों के कारण वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है।२

ब्राह्मणों की यह प्रतिष्ठा अकारण नहीं थी स्वेच्छया स्वीकृत त्याग, संयम एवं साधना का जीवन बिताते हुए वे प्राचीन समाज के सर्व प्रमुख कार्यों—अध्यापन व यज्ञ का वहन करते थे। आपस्तम्ब व बौधायन ने भी अपने धर्मसूत्रों में यही मत प्रकट किया है।३ महाकवि ने कण्व, मारीच च्यवन, वाल्मीकि, वसिष्ठ व विश्वामित्र आदि महर्षियों के तपोवनों का सांगोपांग वर्णन किया है। ये तपोवन अध्ययन-अध्यापन के आदर्श केन्द्र थे। रघुवंशियों का महत्व ज्ञान व वचन अगोचर था क्योंकि महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें वेदोक्त-विधि की शिक्षा दी थी।४ पुरूरवा के पुत्र कुमार आयु ने अपनी शिक्षा महर्षि च्यवन के आश्रम में पूरी की थी। कुछ ब्राह्मण शिक्षक ऐसे भी होने लगे थे जो आश्रमों का एकांत वातावरण छोड़कर नगरों में रहने लगे थे।

किन्तु नगर निवासी होने पर भी ये शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते थे।५ कई ब्रह्मचारी उनके पास विद्याध्ययन के लिए पहुँचते थे।६ कुछ ब्राह्मण ऐसे भी थे कि जिनमें ये गुण विलुप्त हो गये थे। वे राजमहल में ही रहते और वेतन लेकर पढ़ाते थे।७ छोटी-मोटी

---

१ अभि० शा०, अंक ५

२. (क) एते वै देवाः प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणाः। तैत्तरी संहिता १.७.३

(ख) दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.२.६

३. आप० ध० सू०, २.५.१०, ५.८ बौधा० ध० सू, १.१०.२.५

४ द्र० लेखक का 'तपोवनों की संस्कृति' शीर्षक निबन्ध लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली वार्षिक शोध विशेषांक में प्रकाशित वर्ष १९७७

५. चण्डकौशिक, ३-४

६. वही, पृ० १५७

७. मालविकाग्निमित्र, अंक १

बातों को लेकर वाद-विवाद करते थे।[१] वे पेटू होते थे।[२] यद्यपि सिद्धान्त में उनका आदर्श अभी भी—

यद्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति[३] था। परन्तु व्यावहारिक रूप से वे इसे जीविका का आधार मानकर चलने लगे थे। पहले दक्षिणा आधार थी, अब वेतन।[४]

ब्राह्मण धर्म में यजन-याजन का महत्वपूर्ण स्थान था। ब्राह्मण नित्य-नैमित्तिक हवन, यज्ञादि का अनुष्ठान करते थे।[५] राजाओं के यज्ञों में विद्वान् ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता था तथा यज्ञावसान में उन्हें प्रचुर दक्षिणा दी जाती थी।[६] उनके द्वारा यज्ञ-कर्म के लिए किया गया पशु-मारणकर्म भी निन्दनीय नहीं था।[७]

क्षत्रियों के पाशविक बल ब्राह्मणों के आध्यात्मिक तेज के आगे तुच्छ था।[८] इस ब्राह्म तेज के कारण ही वे शाप व अनुग्रह की शक्ति से सम्पन्न थे।[९]

ब्राह्मण अपनी सिद्ध दृष्टि से अतीत-अनागत विषयों का पहले से ही साक्षात्कार कर लेते थे। महर्षि कण्व व मारीच ऐसी ही दिव्य दृष्टि से सम्पन्न थे। महर्षि कण्व ने शकुन्तला के अनागत दुर्दैव को पहले से देख लिया था तथा उसके शमन के लिए सोमतीर्थ की कष्ट-साध्य यात्रा की। महर्षि कण्व, मारीच व च्यवन ऋषि के विश्वामित्र, वाल्मीकि व अगस्त्य के तपोवनों के सांगोपांग वर्णनों से अनायास ही कहा जा सकता है कि ये ब्राह्मण ही वर्णाश्रम प्रधान उच्च भारतीय संस्कृति के नियामक व संरक्षक थे।[१०]

---

१. वही
२. (क) कालिदास व दूसरे संस्कृत नाटककारों की कृतियों में विदूषक,
 (ख) विद्धशालभंजिका, पृ० १०७
३. माल०, १/१७
४. किं मुधा वेतनदानं तेषाम्। माल० १ पृ० २७४ (का० ग्रन्थ)
५. (क) भोः नैत्यकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि''' प्रतिमागृहं प्रविष्टः प्रतिमा ३ पृ० ७७
 (ख) अनेक यज्ञाहुतितर्पितो द्विजैः । कर्णभार १/२३
६. (क) पञ्चरात्र १/४
 (ख महावीरचरित, ४/४७
७. पशु-मारणकर्म''''। अभि० शा०, ६/१
८. पञ्चरात्र, पृ० ४०
९. द्र०—'नाटककार कालिदास की शाप सम्बन्धी धारणा : एक वैशिष्ट्य' लेखक द्वारा अष्टादश कालिदास समारोह में पठित निबंध (१४ से १९ नवम्बर १९७५ को आयोजित)।
१०. द्र० लेखक का तपोवनों की संस्कृति शीर्षक निबन्ध, पूर्व उल्लिखित।

बहुत प्राचीनकाल से ही कुछ ब्राह्मणों को युद्धरत देखा गया है। धर्म शास्त्रकारों ने आपत्काल में गौओं, नारियों तथा ब्राह्मणों की रक्षा के, वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए तथा युद्धकाल में ब्राह्मणों को शस्त्रास्त्र ग्रहण करने की व्यवस्था दी है।१

महाकवि के 'मालविकाग्निमित्र' का सेना-पति पुष्यमित्र शुङ्गवंशी ब्राह्मण ही था, जिसने अन्तिम मौर्यराज बृहद्रथ से राज्य छीन लिया था। उसने वर्णाश्रम-धर्म विरोधी बौद्ध व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप शस्त्र ग्रहण किया था तथा मौर्य साम्राज्य को ध्वस्त कर समाज में ब्राह्मण राज्य के अन्तर्गत ब्राह्मण धर्म तथा ब्राह्मणधर्म–विहित चतुर्वर्णों का उद्धार किया था।

यज्ञों में दक्षिणा तथा उदार पुरुषों से दानादि मिलने के अवसरों के अनिश्चित ही रहते थे, अतः उन पर पूर्णतया निर्भर रहना सम्भव नहीं था। साथ ही सभी ब्राह्मणों के लिए वर्षों तक अध्ययन करके सांगोपांग वेद-वेत्ता बनना भी सुगम नहीं था। अतः परवर्ती काल में कई ब्राह्मण अध्यापन, पौरोहित्य व दक्षिणा के सम्भव साधनों के अतिरिक्त आजीविका के अन्य मार्गों का भी आश्रय लेने लगे थे। मृच्छकटिक का नायक द्विजसार्थवाह चारुदत्त२, चौर्यकर्म में प्रवृत्त ब्राह्मण शर्विलक इसके निदर्शन हैं। ब्राह्मणोंको हम ज्योतिषी३, दैवज्ञ कवि,४ दार्शनिक चिकित्सक,५ देव-कुलिक६ आदि कई रूपों में पाते हैं। विदूषकों की परम्परा से भी ब्राह्मणों की अल्पज्ञता व पेटूपन ही प्रकाशित होता है।७

क्षत्रिय—

क्षत्रिय ब्राह्मणों के समान ही उच्च थे। अतः द्विज शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए भी होता था।८ ब्राह्मणों की तरह उनके भी जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न होते थे।९ धनु-र्विद्या क्षत्रियों की शिक्षाका मुख्य अंग थी।१०

१. धर्मशास्त्र का इति०, प्र० भा०, पृ० १४६
२. डा० रमाशंकर तिवारी कृत 'महाकवि शूद्रक' पृ० ३८५
३. विक्रान्त कौरव०, ६/४६
४. अमृतोदय पृ० २५५ से २५७
५. जयशंकर मिश्र कृत ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० १०१
६. प्रतिमा, तृतीय अंक
७. कालिदास की तीनों नाट्यकृतियों का विदूषक
८. मृच्छ० १/३; रघुवंश ५/२३
९. वत्सास्मिन्कुमारस्य जातकर्मादिविधानं तत्रत्य भगवताच्यवनेना शेषमनुष्ठितम्। विक्र०, अंक ५, पृ० २४६ (का० ग्रन्थ)
१०. गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः। विक्र० ५ पृ० २४६

क्षत्रिय सदा अस्त्र अपने साथ रखते थे, चाहे वे किसी भी अवस्था में हों।१ विभिन्न शस्त्रास्त्रों२ की शिक्षा के साथ-साथ अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी करते थे।३

महाकवि कालिदास ने स्वयं क्षत्रियों की जातिगत विशेषता 'क्षतात् किल त्रायते'४ बताई है। राजा की परिभाषा कवि के द्वारा 'राजा प्रकृतिरंजनात्'५ की गई है। क्षत्रियों में एक विशिष्ट तेज विद्यमान रहता था, उसे क्षात्र तेज की संज्ञा दी गई है। इस तेज की प्रधानता के कारण ही वे क्षत्रिय कहे जाते थे।६ इसी शौर्य के कारण वे इन्द्र के द्वारा इन्द्रासन पर विराजमान किये जाते थे और उनकी कीर्ति किन्नरगण गाया करते थे।७ समस्त संसार का अभ्युदय उन्हीं पर निर्भर था।८

राजाओं से वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करने की अपेक्षा की जाती थी। सुखी चातुर्वर्ण्य समाज ही तत्कालीन राजाओं का लक्ष्य था। राजा दुष्यन्त वर्णाश्रम धर्म की सम्यक्तया रक्षा करता था। इसीलिए उसके राज्य में निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति भी कुमार्गगामी नहीं था।९ चारों वर्णों के लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते थे।

गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा१० करने के साथ-साथ शरण में आए हुए किसी भी प्राणी को अभयदान देना उसका कर्तव्य था। तपस्वियों के यज्ञ-यागादि के निर्विघ्न संचालन का उत्तरदायित्व राजाओं पर ही था। ये ऋषि-मुनि स्वयं भी नृपतियों के पास राक्षसों से त्राण पाने के लिए, सहायता की याचना करने पहुँचते थे।११ राजा दुष्यन्त के कण्वाश्रम में प्रवेश करते ही यज्ञादि धार्मिक कार्य सर्वथा

---

१. चापमभंगञ्जलिं प्रणमति···। वही
२. कर्णभार, पृ० ८ (चौ० सं०)
३. मृच्छ० १/३, ५ पर टिप्पणी
४. रघुवंश २/५३
५. वही, ४/१२
६. अविमारक १/७
७. (क) अनर्घ० १/२६,
(ख) अभि० शा०, अंक ७,
व (ग) विक्रमो०, अंक ५
८. अनर्घराघव १/५३
९. अभि० शा०, ५/१०
१०. पञ्चरात्र, २/५
११. किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां···। अभि० शा०, अंक ५ तु० की०—महावीरचरित पृ० ३५-३६, अनर्घराघव, अंक २, वही, २.५५-६२ उत्तररामचरित १.४० अभि० शाकु० ३.१

निष्प्रभ हो जाते हैं। धनुष पर बाण चढ़ाने की तो बात ही क्या, वे उसकी प्रत्यंचा के टंकारमात्र से विघ्नों को दूर हटा देते हैं।१ तपोवन के विषय में राजाओं की जिज्ञासा यह सूचित करती है कि वे तपोवनों व तपोवनवासियों की कल्याण कामना के लिए कितने जागरूक रहते थे।

कण्वाश्रम के तपस्वियों को आया जानकर राजा दुष्यन्त के मन में ऊहापोह उठ खड़ा होता है—

किं तावद् व्रतिनामुपोढ
तपसां विघ्नैस्तपो दूषितं,
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत
प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित् प्रसवो ममाप-
चरितै विष्टम्भितो वीरुधां,
मित्यारूढ बहुप्रतर्कमपरि-
च्छेदाकुलं मे मनः ।२

इन सेवाओं के बदले राजा को यह न्यायिक अधिकार मिला हुआ था कि वह प्रजा की आय का छठा हिस्सा कर के रूप में ले। यह षड्भाग कहा जाता था।३ तपोवनों में निवास करने वाले ऋषि मुनियों से भी उसे तप का षष्ठांश प्राप्त होता था जो अक्षय था जबकि अन्य वर्णों से प्राप्त धनादि तो नाशवान् था।४ इसी आधार पर राजा की एक संज्ञा षष्ठांशवृत्ति (षष्ठांशवृत्तेः)५ दी गई है।

प्रजा के पालन के कारण ही राजा प्रजा का सच्चा सम्बन्धी था।६ वह अपने सुख के प्रति निरभिलाष रहकर प्रजा के कल्याण में रत रहता था।७ अभिषेक नाटक में आया है कि जिस प्रकार गोपाल के बिना गायें नष्ट हो जाती हैं वैसे ही राजा के बिना प्रजायें नाश को प्राप्त हो जाती हैं।८ महाकवि ने भरतवाक्य में राजाओं द्वारा धर्मपूर्वक पृथ्वी के पालन की कामना की है।९

---

१. अभि० शाकु०, ३.१
२. अभि० शाकु०, ५.९, तु० की० अनर्घराघव १.२५
३. अभि० शाकु० २.१३, तु० चन्द्रकला नाटिका, पृ० ७१
४. अभि० शाकु० २.१३
५. वही,
६. नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः । प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय॥
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम । त्वयि परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥
वही, ५.७
७. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः । प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥
वही ५.८
८. अभिषेक, ३.२४
९. अभि० शा०, ७.३५

क्षत्रिय अतीव पराक्रमी व शौर्यशाली थे। उनका शस्त्र धारण आर्त्तों व पीड़ितों की रक्षा के लिए होता था।[1] गीता व महाभारत में भी उनके लिए धर्म-सम्मत युद्ध करना-श्रेयस्कर माना गया है।[2] अत्याचारियों का नियन्त्रण व धर्मचारियों की रक्षा उनके प्रधान कर्त्तव्य थे।[3] समय-समय पर असुर स्वर्ग पर आक्रमण करते और तब इन्द्र के लिए आवश्यक हो जाता था। वह इन अतीव पराक्रमी क्षत्रिय राजाओंको सेनापति बनाकर परास्त करवायें। महाकवि के दुष्यन्त[4] व पुरूरवा[5] तथा अन्य रूपकोंमें अर्जुन[6], दशरथ[7], कृष्ण[8], प्रद्युम्न[9] आदि वीर क्षत्रियों के सेनापतित्व में असुरों को पराजित किया जाता हुआ देखते हैं।

ब्राह्मण वर्णव्यवस्था में शीर्ष-स्थान पर विराजमान थे तथा क्षत्रिय उनका अनुसरण करते थे। यदि ब्राह्मण प्राचीन आर्य राष्ट्र के मस्तिष्क थे तो क्षत्रिय उसके बाहु थे। दोनों वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण मिलते हैं। क्षत्रियों का अमोघ अस्त्र ब्राह्मणों का आशीर्वाद है। क्षात्रतेज के साथ जब ब्राह्मण-तेज मिल जाता है तो वह दुर्धर्ष हो जाता है।[10] इसीलिए दुष्यन्त की कण्व व मारीच के प्रति भक्ति-भावना दिखाई देती है। रघुवंशी राजागण कुल देवता की तरह वसिष्ठ की आराधना करते थे तथा तपस्वियों का आशीर्वाद पाने के लिए यत्न करते थे।[11]

वैश्य—

ब्राह्मण व क्षत्रिय के समान वह भी द्विजाति का था। उसके भी द्विजाति के लिए

१. (क) आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि। अभि० शा० १/११
   (ख) तु०, प्रतिमा ५/२१
२. (क) धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत क्षत्रियस्य न विद्यते। महाभारत, ६/१२२, ६७
   (ख) गीता, अध्याय दो
   (ग कर्णभार १/१२ व १४
   (घ) वेणीसंहार पृ० २७५ व ३/२८
३. महाभारत, ५/१३६, १२/२२
४. अभि० शा०, अंक ६ व ७
५. विक्रमो० अंक १ व ५
६. दूतवाक्य, ३२ दूतघटोत्कच १/२२, वेणीसंहार, पृ० २८३
७. महावीरचरित, ४/१८; अनर्घराघव १/२७–२८
८. उमापति दीक्षितकृत पारिजातहरण
९. प्रद्युम्नाभ्युदय
१०. महावीरचरित, २/५
११. वही ४/१४

आवश्यक सभी संस्कार किये जाते थे।१ यदि ब्राह्मण समाजके मस्तिष्क थे और क्षत्रिय भुजायें तो वैश्य वर्णाश्रम व्यवस्था को आर्थिक सम्बल प्रदान करने वाले थे। उनका मुख्य कार्य अर्थोपार्जन था। वे व्यापार कृषि व गौपालन द्वारा अर्थोपार्जन करते थे।२ वैश्य वर्ण के लिए वाणिज३, वणिज४, नैगम५, श्रेष्ठि६, सार्थवाह७, विपन८, गृहपति९ आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

जैसा कि हमें अभि० शाकु० से ज्ञात होता है कि श्रेणियों में जो पण्यों से लदे अपनी बैलगाड़ियों के काफिले लेकर व्यापार हेतु सुदूर प्रदेशों में जाने वाले सार्थवाह कहलाते थे। ये सार्थवाह जहाजों (यानपात्राणि) से समुद्र पार विदेशों में भी व्यापार करते थे।१० शाकु० में सेठ धनमित्र के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि कभी-कभी ये सार्थवाह समुद्र मार्ग से जाते हुए नाव-दुर्घटना के शिकार हो जाते थे।११ कभी किसी मरुस्थल में भटकने या कभी किसी दस्यु-दल-बल द्वारा आक्रान्त किये जाने की सम्भावना बनी रहती थी।१२ फिर भी नाना कष्टों को झेलकर इन सार्थवाहों ने सुदूर प्रदेशों में व्यापार करके देशको श्रीसंपन्न बनाया।

राजा यद्यपि सबका शासक था, किन्तु ब्राह्मणों पर उसका प्रभुत्व नहीं था।१३ वह उनका धनादि नहीं ग्रहण कर सकता था।१४ पर वैश्यों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं था।

---

१. अभि० शा०, पृ ४००
२. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्। गीता १८/४४
३. विक्रान्त कौरव ३/२
 वाणिजो जित्वरीमाहुः सत्यं॰॰ ।
४. वाणिज इव भान्ति। मृच्छ० ७/६; मालविकाग्निमित्र १/१७
 प्रबोधचन्द्रोदय ३/६
५. विक्रमोर्वशीय ४/१३
६. चारुदत्त, ४ पृ० १११, चतुर्भाणी पृ० ७०, १२२, मृच्छ० २४६
७. अभि० शा० पृ० ४०० (का० व्या०); चतुर्भाणी १२८; १३८ मुद्रा० पृ० ६१
८. मृच्छ० १/२२
९. वही० पृ ९०
१०. मृच्छ०, चतुर्भाणी पृ० १३८, शाकु० ६ पृ० ४ ०
११. शाकु० पृ० ४००
१२. चतुर्भाणी पृ० १३८
१३. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् गौतम० ९०१
१४. मनु० ९/१८८–८९

समुद्र व्यवहारी सेठ धनमित्र के सम्बन्ध में मन्त्री ने लिखा था कि उसके निःसंतान मरने से उसका सारा धन राजकोषमें आना चाहिए।[१]

ब्राह्मणों व क्षत्रियों की अपेक्षा क्षत्रियों का संख्या-बल अधिक था। वैश्य जाति अपने कार्य के अनुसार गणों व नैगमों में विभाजित रहती थी।[२] स्मृतियों व पुराणों में अन्य द्विजातियों के समान ही वैश्यों के लिए भी दान, यज्ञ व अध्ययन—इन तीन कर्मों का विधान किया गया है।[३] पर महाकवि की कृतियों से इस पर प्रकाश नहीं पड़ता।

अन्य जातियाँ—

महाकवि ने ऐसी भी जातियों का उल्लेख किया है, जो चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत नहीं थीं। पृथक्-पृथक् व्यवसाय व आजीविका ग्रहण करने के कारण उनके पृथक्-पृथक् वर्ग व समुदाय बनने लगे थे, वे ही आगे चलकर व्यावसायिक जातियों में परिवर्तित हो गये—यथा चित्रकार[४], धीवर[५], सुधाकर[६], शौण्डिक[७], सौनिक[८] आदि।

सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-साथ चातुर्वर्ण्य में अन्तर्जातिगत विवाह-पद्धति के कारण वर्ण-सांकर्य का प्रादुर्भाव हो चला था। मालविकाग्निमित्र में महारानी धारिणी का वर्णावर भ्राता[९] वीरसेन सम्भवतः वर्ण-संकर संतान ही है।

जीवन की सामान्य यात्रा चारों वर्ण अपने-अपने कर्मों का अनुसरण करते थे और सभद्र व्यवसाय की अन्न-प्राप्ति को भी घृणा की दृष्टिसे नहीं देखा जाता था। यद्यपि कभी-

---

१. (क) राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। शाकु० ६ पृ० ४००
   (ख) साथ ही द्र० उभयाभिसारिका, चतुर्भाणी पृ० १३८
२. विक्रमोर्वशीय ४/१३ द्र० टीका पृ० १४६। नैगम का अर्थ वणिज तथा वाणिज्य दोनों ही किया है। वस्तुतः नैगम एक व्यापारिक संगठन था, द्र० रामायण-कालीन समाज (शान्तिकुमार नानूराम व्यास) पृ० ८७
३. सिद्धेश्वरी नारायणराव, पौराणिक धर्म व समाज, पृ० १७६
४. सखि, देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतम्। माल०, १ पृ० २६३ (का० ग्रन्थ)
५. अभि० शा० ६ पृ० ६७ (का० ग्रन्थ); द्र० वेणीसंहार ६/२
६. वही २ पृ० २७
७ तच्छौण्डिकमापणमेव गच्छामः।'……वही, ६ पृ० १०१
८. इसके आशय में महाकवि ने 'सूनापरिसरचर' शब्द का प्रयोग किया है—
   'भवानपि सूनापरिसरचर इव'
   माल०, २ पृ० २८६ (का० ग्रन्थ) इनका व्यवसाय मांस बेचना था।
९. वही १ पृ० २६६

कभी ऐसे व्यवसाय के सम्बन्ध उच्च वर्ण का अभिमान करने वाले की उपहासात्मक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। शाकुन्तल का क्षत्रिय वर्ण का प्रहरी धीवर के पेशे के ऊपर अशिष्टता से आक्षेप करता है, किन्तु धीवर अपने पेशे का औचित्य निर्भयतापूर्वक सिद्ध करता हुआ प्रतिवाद करता है। भिन्न-भिन्न वर्णों का कर्म उनके जन्म के साथ ही उत्पन्न माना जाता था, जिसे जन्म के कारण ही आनन्दपूर्वक करना था। वेदों का पारंगत विद्वान ब्राह्मण-श्रोत्रिय हृदयहीन नहीं हो सकता। तथापि यज्ञों में पशुओं के वध के लिए उसे क्रूर होना पड़ता है, क्योंकि वह उसके सहज कर्म का अङ्ग है।[1] पैतृक कर्म निन्दित व घृणित होने पर भी अपरिहार्य था।

सभ्य जातियों के साथ-साथ कई अनार्य जातियाँ भी विद्यमान थीं। इन जातियों में हूण, शक, यवन, किरात आदि परिगणित हैं। ये हिमालय व विन्ध्याचल के वनों में रहने वाली आदिम जातियाँ थीं। ये वर्ण-धर्मियों से पर्याप्त भिन्न स्थिति में थीं, उनका उल्लेख भी पर्याप्त घृणा के साथ किया गया है। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि वन-प्रान्तर में बसने वाली ऐसी एक जंगली जाति ने विदिशा से लाई जाती हुई मालविका के दल पर भयंकर आक्रमण कर दिया था। ये डाकू विकराल थे तथा लम्बे काले बालों में मोर-पंख बाँधे थे।[2]

—●○○●—

—❀ मोह ❀—

पराई को अपना मान बैठना 'मोह' है। मोह की बड़ी बड़ी कड़ी है; परन्तु 'पथिक-दृष्टि' से देखने पर सब सम्बन्ध कल्पित प्रतीत होते हैं। ट्रेन के एक डिब्बे में बन्द अनेक यात्री अपना-अपना टिकिट समाप्त होने पर उतरते जाते हैं; जब एक साथ रहते हैं परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते हैं मित्र बन जाते हैं; पर किसी के चले जाने पर कोई शोक नहीं करता। ऐसे विचार से सबको तथा विशेष रूप से गृहस्थी को रहना चाहिए। जितने दिन का जो टिकिट लाया है, उतने दिन यहाँ रहेगा। 'संयोग-वियोग होना' इसी का नाम 'सृष्टि' है; आना-जाना सृष्टि में लगा हुआ है। जब जिसको जाना होगा चला जायगा—उसे कोई रोक नहीं सकता' विधाता का विधान ही ऐसा है। जब हमें चलना होगा हम भी चल देंगे, मोह क्यों करना? अपना कर्तव्य करते जाओ—इतना ही सम्बन्ध है चलते समय फिर पछतावा न होगा और कोई सम्बन्ध किसी के नहीं है—कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है।

— योगी श्री सियाराम

---

१. सहजं किल यद्विनिन्दितं ……। शाकु० ६/१

२. मालविका०, अंक ५

ध्यान-योग और ज्ञान-योग की प्रक्रिया

[श्री आचार्य विनोबा भावे]

एकाग्र प्रक्रिया -

अपने मनकी अनेक वासनाओं में तुलना करके देखिये कि उनमें से सबसे प्रबल वासना कौन-सी है। शेष वासनाओं को छोड़कर उसी एक वासना की धुन लगने दीजिए। उसी में अपना चित्त एकाग्र कीजिए। मान लीजिए किसी विद्यार्थी की वासनाओंके साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वासनाओं से बलवती है। वह गुरु-गृह जाकर रहेगा, जो मिलेगा वही खाकर अध्ययन करेगा, अर्थात् वह मीठा खाने की वासना को मार डालेगा। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनाया जाय, यह ध्यानयोग की युक्ति है। विद्याध्ययन की तीव्र इच्छा वाले विद्यार्थियों में हम यह बात पाते हैं कि अन्य वासनाओं का निग्रह करके वे विद्यार्जन के लिए अनेक कष्ट झेलते हैं। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्' यह व्यास जी ने कहा ही है। हम तो विज्ञापन निकालते हैं कि हमारे छात्रालय में सुख-सुविधा तथा विद्या दोनों की व्यवस्था है। यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान रहेगा तो विद्या में नहीं रहेगा। अतः अपनी वासनाओं की छानबीन कर जो सबमें प्रबल लगे, उसी पर एकाग्र होइये। आज के प्रयोग कर्त्ता भौतिकी वैज्ञानिक ऐसा ही करते हैं। वे अपना सारा ध्यान और शक्ति अपने प्रयोग पर लगाते हैं। यह हुआ ध्यानयोग। अन्य वासनाओं को दूर कर एक ही वासना पर केन्द्रित हो, फिर उसे भी छोड़ दें। यही वह युक्ति है। एकाग्रता सध जाने पर उस वासना का भी त्याग करके मुक्त हो जाना है।

सूक्ष्म प्रक्रिया—

इस प्रक्रिया में स्थूल वासना त्यागिए और सूक्ष्म ग्रहण कीजिये, यह युक्ति बताई जाती है। यदि सज धजका शौक है तो शरीर को सजाने की अपेक्षा अन्तरंग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो। नई विद्या प्राप्त करो कला सीखो। शरीरके स्थूल शृंगार की अपेक्षा यह बौद्धिक शृंगार सूक्ष्म है। इससे भी सूक्ष्म शृंगार है हृदय को शुभ गुणोंसे मंडित करना। शरीर को सुगंधित करने वाले इत्र की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य अधिक सुगंधित इत्र है और उससे भी अधिक सुगन्धित इत्र है हृदय की शुभ-गुण-सम्पदा। बाह्य शृंगार की अपेक्षा अन्तःशृंगार से जीवन की शोभा विशेष बढ़ेगी। शोभा का स्थूल रूप छोड़िये और सूक्ष्म रूप गहिये। आनन्द कामना में नहीं, कामना तृप्ति में होता है। इस तरह कामना अन्तर्मुख तथा सूक्ष्म होते-होते अन्त में बिल्कुल नष्ट हो सकती है, या होनी चाहिए। यह ज्ञानयोग की युक्ति है।

योग की प्राचीनता और प्रामाणिकता

[श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम० ए०, दर्शनशास्त्र]

अथ योगानुशासन का शाब्दिक अर्थ होता है—'अब योग की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है।' इस सूत्र में 'अनुशासन' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' और 'शासन' का अर्थ है 'उपदेश'। अतः अनुशासन शब्दसे यह तात्पर्य निकलता है कि महर्षि पतञ्जलि जी ने किसी नये योग का उपदेश नहीं किया, वरन् उनसे भी पहले योग था, जिसको उन्होंने सूत्रबद्ध किया। इस प्रकार 'अनुशासन' शब्द योग की अत्यन्त प्राचीनता का परिचायक है। यह योग महर्षि पतञ्जलि के बहुत पहले का है। जैसा कि हमें विभिन्न ग्रन्थोंसे पता चलता है, योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ माने गये हैं। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है :—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः,
परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य,
वक्ता नान्यः पुरातनः ॥

अर्थात् सांख्य के वक्ता परमर्षि कपिल कहलाते हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुरातन वक्ता और कोई नहीं है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्धके १९वें अध्याय में भी इसी बात की पुष्टि की गई है—

इदं हि योगेश्वर योगनिपुणं,
हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद यत्।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो,
भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥

अर्थात् हे योगेश्वर! जिस योग के द्वारा मनुष्य अन्तकाल में देहाभिमान को त्याग करके आपके निर्गुण शरीर में चित्तको लगाते हैं, वह वही योग है जिसे भगवान हिरण्यगर्भ ने कहा था। अब प्रश्न उठता है कि हिरण्यगर्भ कौन थे और वे कब उत्पन्न हुए थे? हिरण्यगर्भ के बारे में हमारे शास्त्र बतलाते हैं कि हिरण्यगर्भ मनुष्य नहीं थे वरन् आदि प्रजापति थे। इनका सम्बन्ध महत्तत्त्व से होनेके कारण इन्हें सबल ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। वेदों में कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य,
जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १०/१२१, यजु० अ० १३, मंत्र ४)

अर्थात् सबसे पहले हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए, जो समस्त प्राणियों के एकमात्र पति हैं। उन्होंने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी को सबको

धारण किया। उस प्रजापति देव का हम हव्य के द्वारा पूजन करते हैं। महाभारतमें हिरण्य-गर्भ का परिचय इस प्रकार मिलता है—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान य,
एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं,
स च लोके विभुः स्मृतः ॥

अर्थात् वह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही है जिनकी स्तुति की गई है और जिनको योगी-गण नित्य पूजा करते हैं और जिन्हें लोक में विभु कहा गया है।

उपर्युक्त वेदमन्त्र द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि-रचनाक्रम में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए। इस प्रकार हिरण्यगर्भ प्राचीनतम् पुरुष हुए, अतः उनके द्वारा कहा गया यह योगशास्त्र भी प्राचीनतम् हुआ। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी हिरण्यगर्भ को ही सबसे प्राचीन वक्ता माना गया है।

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में भी योग का वर्णन मिलता है। नीचे वेद के कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे योग की प्राचीनता प्रमाणित होती है—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो,
विप्राविप्रस्य बृहतोविपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक,
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।

(यजुर्वेद)

अर्थात् जो ज्ञानी विद्वान हैं वे उस महान् ब्रह्म को जानने के लिए समाधि या योग में प्रवृत्त होते हैं। योग की शक्ति से यज्ञ कर्मों का भी विधान किया जाता है।

वेदों के अनुसार योग की सिद्धि के लिए धी शक्ति अत्यन्त आवश्यक है। धी का सम्बन्ध ध्यान से है। बिना योग के कोई यज्ञ सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद में लिखा है:—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। सधीनां योगमिन्वति।

(ऋ. मंडल १ सूक्त १८, मंत्र ७)

अर्थात् विद्वानों का भी यज्ञ, बिना योग के सिद्ध नहीं होता।

स घा नो योग आ भुवत स राये स पुरंध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः ॥

(ऋ० १/५३/साम० ३०१/२/१०/३/ अथर्व० २०/६९/१)

अर्थात्, "ईश्वर की कृपासे हमें योग सिद्ध होकर विवेक ख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारी ओर आवें।"

"योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥"

(ऋ० १/३०/७/सा० उ० १/२/११/अथर्व०/ २४/७)

अर्थात्, "हम साधक-गण प्रत्येक समाधि

में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र (ईश्वर) का आह्वान करते है।"

वेद के अंग उपनिषदों में भी योग का निरूपण किया है। सभी उपनिषदों में योगकी प्रधानता स्वीकार की गई है। उदाहरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद् में ध्यान-योग, योग की विभिन्न क्रियाओं तथा उनके फलों का विस्तृत विवेचन किया गया है। समाधि का फल बताते हुए लिखा है—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्वमाक्षिपत्॥

अर्थात् "सविता के द्वारा अनुज्ञात होकर उस चिरन्तन ब्रह्म का सेवन करना चाहिये। उस ब्रह्म में तुम समाधि रूप निष्ठा करो। इससे पूर्त कर्म तुम्हारे लिए बन्धन कारक नहीं होगा।" श्वेताश्वतरोपनिषद् के अध्याय 'दो' में ध्यान, प्राणायाम तथा योगजा सिद्धियों का विशद् वर्णन किया गया है। कठोपनिषद में ध्यान-योग की महत्ता दिखलाते हुए यमराज नचिकेता से कहते है:—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वैतत्॥

(कठो॰उ॰ २/१)

अर्थात् ग्यारह दरवाजों वाला यह शरीर आत्मा का पुर है। उस आत्माका ध्यान करने पर मनुष्य शोक नहीं करता और मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते,
ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति,
तामाहुः परमांगतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते,
स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति,
योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठो॰ अ॰ २ व॰ ३/१०, ११)

अर्थात् जिस समय प्रत्याहार द्वारा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती (अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है) उस अवस्था को परम गति कहते हैं। उस समय पुरुष प्रमाद रहित हो जाता है, क्योंकि योग उत्पत्ति और नाश रूप (निरोध के संस्कारों की उत्पत्ति और व्युत्थान के संस्कारों का नाश) है। बृहदारण्यकोपनिषद में भी समाधि के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना बताया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उपनिषद् हैं जिनमें केवल योग का ही वर्णन है। ऐसे उपनिषदों की संख्या २१ है।

श्रीमद्भगवद्गीता सभी उपनिषदों का सार है। इसीलिए इसका पूरा नाम श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषत् है। इसीलिए कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो,
दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता,
दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् सभी उपनिषद् गौ-स्वरूप माने गये हैं, श्रीकृष्ण भगवान ग्वाल रूप हैं, बुद्धिमान अर्जुन (गौ को पन्हाने वाले हैं) इस गौ के दूध का उपभोग करने वाला बछड़ा (वत्स) है, और दूध जो गौसे प्राप्त किया गया है वही सुमधुर गीतामृत है। तात्पर्य यह है कि इस समय यह अद्वितीय ग्रन्थ सारे विश्व का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

गीता के छटवें अध्याय में पातञ्जल-योग का सविस्तार वर्णन किया गया है। यहां पर हम गीता में वर्णित योग का विस्तृत विवेचन न करके केवल एक श्लोक उद्धृत करते हैं जिससे यह पता चल जाय कि गीता ने योग को क्या स्थान दिया हैः—

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

"योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्ड वालों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी हो।" योगियों की बात तो दूर रही गीता ने योग के जिज्ञासु को भी कर्म-काण्ड वालों से ऊंचा बतलाया है—

"जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ।"

अर्थात् योग का जिज्ञासु भी कर्म काण्ड की सीमा से आगे है।

पुराणों में योग के आठों अंगों का निर्देश मिलता है तथा योग सम्बन्धी अनेक दृष्टान्तों अथवा घटनाओं का वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत् में यम और नियम के बारह बारह भेद बतलाये गये हैं और स्कन्द पुराण में दस-दस भेद। स्कन्द पुराण में नाडी, चक्र तथा कुण्डलिनी आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत् यद्यपि भक्ति प्रधान ग्रन्थ है। फिर भी उसमें योग के द्वारा आत्मशुद्धि एवं मोक्षके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे, योगाग्नि के द्वारा सती का शरीर त्याग, ध्रुव द्वारा आसन और प्राणायाम से चित्त के मल को दूर करके भगवान में चित्त को एकाग्र करना, अजामिल के द्वारा योग का आश्रय लेकर परमधाम को प्राप्त करना इत्यादि। इसके अतिरिक्त योग के आठों अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है। ध्यान की विधि तथा ध्यान-योग से प्राप्त सिद्धियों का भी विशद विवेचन किया गया है।

महाभारत में योग की महिमा बड़े ऊँचे शब्दों में गाई गई है। महाभारत की रचना

करने के पूर्व व्यास जी ने महाभारत में वर्णित समस्त घटनाओं को ध्यान-योग के द्वारा ही देखा था।

पुण्ये हिमवतः पादे
मध्ये गिरि गुहालये।
विशोध्य देहं धर्मात्मा
दर्भसंस्तरमाश्रितः॥
शुचिः सनियमो व्यासः
शान्तात्मा तपसि स्थितः।
भारतस्येतिहासस्य धर्मेणा-
न्वीक्ष्य तां गतिम्॥
प्रविश्य योगं ज्ञानेन
सोऽपश्यत् सर्वं मन्ततः।

अर्थात् "हिमालय की पवित्र तलहटी में पर्वतीय गुफा के भीतर धर्मात्मा व्यास जी स्नानादि से शरीर शुद्धि करके पवित्र हो कुश का आसन बिछाकर बैठे थे। उस समय नियम पालन पूर्वक शान्त चित्त हो वे तपस्या में संलग्न थे। ध्यान योग में स्थित हो उन्होंने महाभारत इतिहास के स्वरूप को आदि से अन्त तक सब कुछ प्रत्यक्ष की भांति देखा और इस ग्रन्थ का निर्माण किया।" महाभारत के शान्ति-पर्वमें ध्यान-योग तथा योगकी सिद्धियों का विशद विवेचन किया गया है। महाभारत की कुछ घटनायें—जैसे अर्जुन द्वारा योग-साधन में प्रवृत्त होकर दिव्यास्त्रों को प्राप्त करना, भीष्मपितामह का योग-बल से मृत्यु को रोक रखना इत्यादि, योग की महत्ता की परिचायिका हैं।

योगवाशिष्ठ तथा विवेक-चूडामणि जैसे अद्वैतपरक ग्रन्थों में भी योग का महत्त्व बतलाया गया है। आदि शंकराचार्य ने आत्म-उद्धार के लिए योगारूढ़ होनेका उपदेश करते हुए विवेक-चूडामणि में लिखा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया॥
(वि० चू० ९)

निरन्तर आत्मदर्शन में मग्न रहता हुआ योगारूढ़ होकर संसार-समुद्र में डूबे हुए अपने आत्मा का स्वयं ही उद्धार करे।

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-
र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य,
मोक्षोऽविद्याकल्पिताद् देहबन्धात्॥
(वि० चू० ४८)

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग को मुमुक्षु की मुक्ति का साक्षात् कारण बतलाया गया है। केवल इन्हींमें स्थित होनेसे व्यक्ति अविद्या कल्पित देह-बन्धन से मुक्त हो जाता है।" योग की गीतोक्त पद्धति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन स्वामी शंकराचार्य ने इसी ग्रन्थ में किया है—

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ,
बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे,
विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व॥

"वाणी को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में तथा कूटस्थ (आत्मा) को पूर्ण ब्रह्म में लय करके परम शान्ति का अनुभव करे।"

शंकराचार्य का व्यक्तिगत जीवन भी योग विद्याकी महिमा का पूर्ण परिचायक है। उनके द्वारा राजाके मृत शरीरमें प्रवेश, आकाशगमन तथा योगाग्नि के द्वारा अपनी माता का शव-दाह आदि घटनायें उनके योग-बल के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

योगवाशिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्व के सर्ग ६९ में अष्टाङ्ग-योग का बड़ा ही विशद विवेचन किया गया है। काक-भुशुण्डजी द्वारा वर्णित प्राणायाम की विधि तथा उसके द्वारा आत्म-ज्ञान योग की महत्ता प्रकट करता है। लीला का शरीर परिवर्तन, लोक-लोकान्तर-गमन तथा ध्यान के द्वारा अपने पति के भूत और भावी जीवन का दर्शन योगकी विभूतियों का परिचायक है। चूडाला का योग के द्वारा आत्म-ज्ञान तथा आकाश-गमन इत्यादि घटनायें योगवाशिष्ठ में योग की महिमा को स्वीकार करती हैं। स्वयं वशिष्ठ जी ने ही अपने योग-बल से अनेक ब्रह्माण्डों का निर्माण किया और उनका विनाश भी किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सभी भारतीय शास्त्र योग की सर्वाधिक प्राचीनता और प्रामाणिकता को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलिजी ने योग-शास्त्र के प्रथम सूत्र में 'अनुशासन' शब्द लिखा है।

—:o:—

तुम्हारी महिमा

महिमा अपरम्पार तुम्हारी,
कोई जान न पाया।
किया कृतार्थ उसी को,
जो भी द्वार तुम्हारे आया॥
मेरी भी है विनय दयानिधि,
देकर तनिक सहारा।
मेरे जीवन-पथ का संकट—
हर लेना प्रभु सारा॥

—डा० श्री रणबहादुरसिंह वाराणसी

—★ योग-प्रवृत्ति ★—

[स्व० ब्र० श्री जगन्नाथ 'पथिक']

संसार के अन्तः सूक्ष्मरूप तथा बाह्य स्थूलरूप की दर्शक एवं आत्मा-परमात्मा के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' स्वरूप का साक्षात् कराने वाली ज्ञान-ज्योतिकी उपलब्धि इस अष्टांग योग द्वारा ही हो सकती है। अतः योग की आवश्यकता मानव-मात्र के लिए है और यही प्रवृत्ति 'परम-निवृत्ति' का साधन बनाती है।

योग-प्रवृत्ति—

मानव-समाज के उच्चकोटि के विद्वान भी जब नटों के दिखाये चमत्कारों से प्रभावित होते देखे जाते हैं, तब जन-साधारण की कथा ही क्या? अधिकतर जन-समुदाय तो चमत्कारों का पुजारी है, इसी दृष्टि से वह योग को चाहता है कि कुछ विभूतियां उसे मिल सकेंगी, अन्यथा उसे योग करके लेना ही क्या है। वह तो 'विभूतियों' का ग्राहक है—'न भगवान का न आत्मा का'। विभूतियों की प्राप्तिकी कामना से ही वह आत्मा-परमात्मा को त्याग कर (क्योंकि यह पथ कठिनतम और लम्बा है), देवी-देवों के पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, धूप-दीप नैवेद्य-दान करता है, जिससे उसे कोई अनोखी बात हाथ लग जाय। यदि इनसे भी उसे कार्य-सिद्धि होती नहीं दीखती तो वह अन्यान्य जघन्य आचरण करने लगता है। जैसे—'भूत-प्रेतादि सिद्धि के लिए श्मशान-सेवन, मांस-मदिरा-मीन-मैथुन आदि 'पंच मकार' सेवन तथा वाम-मार्ग का अनुगमन करने से भी झिझकता नहीं'। यह सब वह इसीलिए करता है कि इस नश्वर क्षण-भंगुर देह को विषयभोग के लिए अधिक समर्थ बना ले—विषयों का जी-भर कर सेवन कर ले—पर इसी तृष्णा में मृत्यु का ग्रास बन जाता है। यह तृष्णा उसे ऐसी योनि में जा फेंकती है कि जहां से ऊपर उठना असम्भव हो जाता है।

गीताकार के कथनानुसार—आत्म-कल्याण की भावना को लेकर भगवान् की ओर झुकने वाला कोई विरला ही होता है। अन्यथा—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभः

रोगी, निर्धन तो प्रायः और जिज्ञासु-ज्ञानी कोई होता है जो भगवान् को भजता है।

मादक द्रव्यों के समान यह विषयों का विष इतना मादक है कि योगी भी इसकी मार से नहीं बच पाते, भोगी तो बचेंगे ही क्या ?

योग-दर्शन—

'ग्रामं गच्छन् तृणानि स्पृशति'

के अनुसार भगवान् पतंजलि ने तो 'विभूति-पाद' को स्वाभाविक रीत्या रचा था। 'यम-नियम-आसन-प्राणायाम' इन बहिरंग साधनों से स्थूलदेह पर जब प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, तभी साधक आगे बढ़ सकता है। आगे प्रत्याहार से 'इन्द्रियजय' प्राप्त होता है और 'सूक्ष्म शरीर' पवित्र बनता है। 'धारणा-ध्यान-समाधियों' से 'सूक्ष्म शरीर' पर अधिकार हो जाता है और इसकी शक्ति बढ़ जाती है। तब प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों की क्रीड़ा के रूप में ये विभूतियाँ किसी-किसी पर प्रकट होने लगती हैं—अन्यथा इन सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार का उपायान्तर है ही नहीं। जैसे एक वैज्ञानिक कई तत्त्वों को मिला-मिलाकर कोई नया पदार्थ निर्माण करके प्रसन्न होता है और उससे जनता की सेवा भी कर देता है। यही बात योगी भी करता है, परन्तु ये विभूतियाँ हैं 'प्रकृति के भंवर ही'। इस भंवर में से जिसे निकलना नहीं आता और जा फंसता है, वह अभिमन्यु के समान ही मारा जाता है। अथवा जो कोयलों की कोठरी में घुस जाता है, वह बिना कालिख लगे निकलता नहीं देखा गया। अतः ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृश के अनुसार ही इनसे बर्ताव करना चाहिए।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'कारण शरीर' से छुटकारा पाना भी आवश्यक है, वह 'पर-वैराग्य' से पाया जाता है। अतः विभूतियों से आंख बचाते हुए योगी को चलना पड़ता है। योगी को संसार से छुटकारा इसलिए पाना है, क्योंकि संसार में कष्टों की भरमार है, तब भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो डाकुओं की नगरी के समान इस संसार को छोड़ने के लिए डाकुओं के समान उन विषयों तथा पञ्चभूतों के विकारभूत विभूतियों की वाह वाहकी परवाह करेगा—और करेगा अपना अनिष्ट। विभूतियों की प्राप्ति में शक्ति का ह्रास तथा उनके दिखाने में सर्वनाश हुए बिना नहीं रहता—'बदले में कालिख ही मिलती है—विषय-भोगों की विष्ठा ही खाने को मिलती है। अतः 'योग में प्रवृत्ति' महान् पुण्य कर्मों की प्रेरणा से ही होती है और पुण्यात्मा ही साधन-पथ में प्रवृत्त होते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के दिव्य-सन्देश

[साहित्य वारिध, विद्या वारिध श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर']

विश्व भर में योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य सन्देशों का भरपूर प्रचार-प्रसार और आदर है।

भारतवर्ष में तो श्रीकृष्ण का अवतार सर्वथा सम्पूर्ण माना जाता है। श्रीकृष्ण के जीवन से गृहस्थ, संन्यासी और प्रत्येक वर्ग के मानव अपनी-अपनी रुचि और श्रद्धा के अनुसार भक्ति करके लाभ उठा सकते हैं।

विलक्षण और समन्वयवादी चरित्र

मानव-जीवन के लिए श्रीकृष्ण का चरित्र ऐसा समन्वयवादी है कि वह साक्षर और निरक्षर, धनी और निर्धन, वीर और ज्ञानी सब को ही संतुष्ट कर देने की क्षमता रखता है। वह ऐसा चरित्र है जिसका एक-एक अंश। एक-एक वर्ग को आनन्द-विभोर करके मुक्ति दे सकता है।

धर्म संरक्षण का श्रीगणेश

श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक जीवन से ही धर्म-संरक्षण और अधर्म का नाश करने की भावनाओं का मर्म मिलने लगता है। कंस ने अपनी बहिन देवकी की सन्तानों को निर्दयतापूर्वक मार डाला था और अंतमें उसको, पति (वसुदेव) सहित कारागार में बन्दी बनाकर रखा था।

कारागार में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। माता-पिता को त्याग कर वे नन्द-यशोदा के पुत्र बने। कंस के अनेकानेक अत्याचारों को सहन किया, संघर्ष झेले अन्तमें अधर्मी अपने सगे मामा का विनाश किया। आई हुई आपत्तियों का वीरतापूर्वक सामना किया और विजय पाई।

गोप-शक्ति का संगठन-कार्य

नन्द बाबा की गायों को संरक्षण देने के साथ ही साथ उन्होंने बिखरी हुई गोप-शक्ति का संगठन कार्य किया जिससे वे कंस की आसुरी प्रवृत्ति को पराजित कर सके।

क्रान्तिकारी श्रीकृष्ण

गोधन की रक्षा का आदर्श उपस्थित करते हुए उन्होंने गौओं को चराने का कार्य किया। दूध, मक्खन और समस्त गोधन के वास्तविक महत्व को उजागर कर उसकी रक्षाका क्रान्तिकारी सन्देश दिया। उसका शुभ परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण व्रज-मण्डल में दूध और दही की नदियां बहने लगीं। घर-घर में दूध और दही के उपयोग से गोप-गोपियां बलिष्ठ बन गयीं।

गोप और गोपियों के साथ रास-लीलायें

नारी का स्तर ऊँचा उठाने के लिए गोप

और गोपियों के साथ स्वयं हिल-मिलकर रास लीलायें कीं। उन अनेकानेक लीलाओं में गोप और गोपियां निस्संकोच मिलते, खेलते-कूदते और अपनी-अपनी भावनायें एक दूसरे पर प्रकट करते इस प्रकार भेद-भाव और निम्नस्तर की भावनाओं का अन्त हो गया।

सेवा का महत्व

सेवा कार्य को विशेष प्रधानता देते हुए उन्होंने पाण्डव नरेश महाराज युधिष्ठर के महायज्ञ में अतिथियों के पैर-प्रक्षालन का भार स्वयं सहर्ष स्वीकार किया था जिसकी सबने ही प्रशंसा की थी।

श्रीकृष्ण के चरित्र की विशेषता

श्रीकृष्ण जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपने जीवन-काल में उन ने गायें चराकर वैश्य का सारथी बनकर शूद्र का, अर्जुन को युद्धरत करके क्षत्रिय का और विशद्-ज्ञान देकर ब्राह्मण का कार्य किया है।

महाभारत का अनुशीलन करने वाले प्रबुद्ध पाठक श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं से भी भली प्रकार निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन्होंने अन्याय और अत्याचारों के विनाश के लिए सदैव संघर्ष किया और धार्मिक परम्पराओं का ऐसा पुनरुत्थान किया जिससे विश्व मानवों का कल्याण हो।

गीता-ज्ञान के दिव्य-सन्देश

विश्व-मानवों के कल्याणार्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान के रूपमें जो दिव्य-संदेश दिए हैं वे सर्वदेशीय और सर्व कालिक सिद्ध हो रहे हैं। वे अत्यधिक प्रशंसनीय हैं।

मोह-जनित भावनाओं से ग्रसित अर्जुन जब युद्ध में अरुचि दिखलाने लगा तब उसके अविवेक को गीता-ज्ञान के द्वारा उन्होंने दूर करके विजय श्री प्राप्त करायी।

सम्पूर्ण महाभारत और श्रीमद्भगवद्गीता का सार रूप यही है कि अपने न्याय संगत अधिकारों को प्राप्त करने के लिए युद्ध करना ही चाहिए-भलेही विपक्षमें काका, भाई, मामा या कोई भी हों।

भावनाओं में ग्रसित होकर अपने मूल कर्तव्यों को त्यागना उचित नहीं।

भावनाओं से मुक्ति और सद्ज्ञान से विजय, यही गीता-ज्ञान का संक्षिप्त सार है।

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट रूप में यह कह दिया था कि जो भक्त मुझको जिस प्रकार भजते हैं, उनको उस प्रकार ही मैं भी भजता हूँ, क्योंकि सभी मानव सब प्रकार से मेरे ही भावों का अनुसरण करते हैं :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते,
तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते,
मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४/११)

भक्त किसी भी देश का निवासी हो कोई भी हो श्रद्धाभाव से मुझको प्राप्त कर सकता है।

इस ही अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं,
गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां,
विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता ४/१३)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण गुण और कर्मों के विभागों से मेरे द्वारा रचे गये हैं। इस प्रकार इस सृष्टि रचनादिकम का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान।

'महाभारत' और श्रीमद्भगवद् गीता भगवान् श्रीकृष्ण के पावन-चरित्रों और दिव्य-सन्देशों के ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जिनसे केवल भारतवासी ही नहीं विश्व के मानव मात्र उज्ज्वल प्रकाश प्राप्त कर अपना-अपना कल्याण कर रहे हैं।

क्रिया-योग और अन्य साधनाओं विषयक-ज्ञान गीता में विस्तार पूर्वक वर्णित है उन सबका उल्लेख इस साधारण लेख में सम्भव नहीं, जिज्ञासु, ग्रन्थरत्न का अनुशीलन करके उनसे अवगत हो सकते हैं।

पाठकों की सेवा में दिव्य-सन्देश प्रस्तुत कर भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र पाद पद्मों में लेखक सश्रद्धा प्रणाम करता है।

—❀ गुणों की वृत्तियां ❀—

जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियां शान्त और प्रकाश युक्त हों, देह निर्भय हो एवं मन अनासक्त हो तब समझना कि प्रभु प्राप्ति के हेतु सत्वगुण का आविर्भाव हुआ है। जब तुम क्रिया कर्म में तत्पर हो बुद्धि तुम्हारी डगमगाने लगे, चित्त चंचल अशान्त हो जाय और मन भ्रम में पड़ जाय तो समझ लेना कि रजोगुण बढ़ गया है। जब तुम धारणा, ध्यान करने में असमर्थ हो जाओ अन्तरात्मा में तुम्हारा मन लगना ही न चाहे आलस्य और तन्द्रा न तुम्हारा मन मूढ़ता को प्राप्त होकर शून्यवत् अकर्मण्य हो जाय अज्ञान तुम्हें आ घेरे, ग्लानि बढ़ने लगे, तुम अपने को भूल जाओ तब समझना तुम्हारा सर्वनाश करने वाला तमोगुण बढ़ रहा है।

सत्वगुणों के बढ़ने से दिव्य शक्तियों का बल बढ़ता है। रजोगुण के बढ़ने से आसुरी वृत्तियों का बल बढ़ता है और तमोगुण के बढ़ने से राक्षसी वृत्तियों का बल बढ़ता है। सत्व के आश्रय से तुम दिव्य-कर्म, धारणा ध्यान समाधि का परमसुख पाओगे रजोगुण के आश्रय से अकर्म, ईर्षा, द्वेष मान बड़ाई, दंभ, अहंकार करके मरोगे।

उठो सवेरा हो गया

[आचार्य श्री यशोवर्धन]

यह उषा-काल है, इसी को ऋषि-मुनियों ने अमृत बेला का नाम दिया है। तुम्हारी आयु को अमर बनाने वाला अमृत—सुहावनी समीर के रूप में इसी समय लुटा करता है। तुम इस उषा-काल के अमृत को लूटकर क्यों पान नहीं करना चाहते? क्या तुम्हें अपने शरीर को स्वस्थ, सबल, दीर्घ-जीवी और कान्तिमय बनाने की इच्छा नहीं है? अगर हाँ, तो फिर इस सुहावने स्वास्थ्य-प्रद उषा-काल में उठने—नियमित रूप से उठ पड़ने की आदत क्यों नहीं डालते? आलसी और प्रमादी के समान तुम क्यों अभी तक शयनागार में पड़े-पड़े अंगड़ाइयां ले रहे हो। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि देर से उठने की तुम्हारी आदत तुम्हें धीरे-धीरे रोग-शय्या की ओर ले जा रही है।

× × ×

उठो सवेरा हो गया। उषा रानी तुम्हारे लिए मंगलघट लेकर खड़ी है। वह तुम्हारी झोली में आज के दिन-रात के २४ अनमोल घण्टे लेकर आई है। वह २४ घण्टे ही अनमोल मोती हैं। इन मोतियों का मूल्यांकन करो, एक सच्चे जौहरी की भाँति और इनका उचित उपयोग करके अपने दिन को और अपनी रात को सुखमय बनाओ, इसी में तुम्हारी बुद्धिमानी है। यदि उषा रानी के दिये हुए इन चौबीस अनमोल मोतियों का तुम सही-सही उपयोग न कर सकोगे तो यह बिखर जायेंगे तुम्हारे हाथों से। तुम्हारे देखते-देखते शून्य में विलीन हो जायेंगे। तुम इन्हें न पकड़ सकोगे, न किसी भी मूल्य पर इन्हें लौटा सकोगे। इसलिए बुद्धिमत्ता इसी में है कि तुम इनका इन २४ घण्टोंके क्षण क्षण का सदुपयोग करो। इनका सदुपयोग ही तुम्हारे जीवन का सदुपयोग होगा, इसे भूल मत जाओ। उषा रानी तुमसे यही कह रही है। उठो सवेरा हो गया, चिड़ियां चूं चूं कर रही हैं। मियां नजीर अकबराबादी कहते हैं चूं-चूं नहीं, वे चूं-चेचूं कहती हैं। यानी यह कह रही है यह संसार चे-चूं है इसमें दखल न दो इसके बारेमें सोचो मत। उसकी रचना के सब खेल सही हैं। संसार ठीक है, ठीक करने-कराने का प्रयास करो तुम अपने को। अपने आचरण को देखो, अपने कामों को देखो, अपनी भूलों को देखो। विचार करो कल जो कुछ तुमने किया वह कहाँ तक ठीक था। कहाँ क्या भूल हुई, आज उस भूल का पश्चात्ताप करो और व्रत लो कि कल की भूल आज दुहराई नहीं जायेगी। उठो नई उमंग और नई स्फूर्ति लेकर औरों का भला करने की भावना लेकर और समय के एक-एक क्षण के उपयोग का मूल्य समझते हुए निर्धारण करो अपने कार्यक्रम का और लग जाओ उसको पूरा करने में। उषा रानी यही तुम्हारे लिए संदेश लाई है, तुम्हें सफलता मिलेगी, विश्वास श्रद्धा और निष्ठा के साथ अपने कामों में जुट पड़ो, भगवान तुम्हारी सहायता करेगा।

० योगाभ्यास की आठ सीढ़ियां ०

[आयुर्वेदाचार्य श्री शिवकुमार जी शास्त्री]

(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि।

यम नियमों के पालन का पूर्ण रूप से अभ्यासी बन जाने के पश्चात् ही अर्थात् प्रथम इन दोनों सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् ही मानव योगाभ्यास की शिक्षा प्राप्त करने योग्य बन सकता है ऐसा योग शास्त्र का विधान है। अतः बिना इन दोनों सीढ़ियों को पार किये योग का अभ्यास करने में सफलता नहीं हो पाती है।

यम के अन्तर्गत अहिंसा (निर्दोष प्राणियों को स्वार्थवश पीड़ा पहुँचाना, सताना और मार देने का मन, वचन, कर्म से परित्याग होना)। सत्य (जैसा मन में ज्ञान हो वैसा ही वचन से कहना अर्थात् मिथ्या भाषण न करना)। अस्तेय (स्वार्थवश किसी भी प्रकार की पर-वस्तुओं को छिपाकर एवं चुराकर ग्रहण न करना)। ब्रह्मचर्य (सन्तानोत्पत्ति उद्देश्य के अतिरिक्त केवलमात्र इन्द्रिय आनन्द के वशीभूत होकर स्व वीर्य को नष्ट न करना), अपरिग्रह (अपनी आवश्यकताओं से अधिक संचित करने की इच्छा से नाना प्रकार की अनुचित विधियों द्वारा धन प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील न होना)। इसके पश्चात् नियम के अन्तर्गत शौच (स्व-शरीर को बाहर-भीतर दोनों ओर से शुद्ध रखना)। सन्तोष (पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् धन एवं उपभोग की जो सामग्रियां हमें प्राप्त होवें उन पर ही सन्तोष करना)। तप (पुरुषार्थ करने में और पूर्व जन्म के मिलने वाले कर्म फल भोगने में जो जो कष्ट हमें उठाने होते हैं उनको सहन करने की शक्ति रखना)। स्वाध्याय (आलस्य त्याग कर नियमित रूप से सद्ग्रन्थों का लोक एवं पर-लोक का ज्ञान बढ़ाने हेतु अध्ययन करते रहना)। ईश्वर प्रणिधान (प्रत्येक प्रकार के दुष्कर्मों को करते समय ईश्वर का भय रखना अर्थात् प्रत्येक समय एवं प्रत्येक स्थान में ईश्वर की विद्यमानता मानना तथा अपनेको ईश्वरार्पण करके जीवनयापन करना)। इसके पश्चात् योगाभ्यास के लिए तीसरी सीढ़ी आसन होती है। स्वस्थ मनुष्य का एकाग्र चित्त होकर योग शास्त्र में वर्णित चौरासी आसनों में से किसी

भी एक आसन से लगातार तीन घण्टे तक बैठने का अभ्यास होना योगाभ्यासी के लिए परम आवश्यक होता है। इसके पश्चात् चौथी सीढ़ी प्राणायाम की होती है जिसके द्वारा इन्द्रियों को वश में करने में और चित्त को एकाग्र करने में योगाभ्यासी को बहुत अधिक सहायता मिलती है।

जिस प्रकार से शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के व्यायाम किये जाते हैं ठीक इसी प्रकार से ही अनेकों विधियों से प्राणायाम के द्वारा श्वासों का व्यायाम प्राणायाम द्वारा होता है।

उपर्युक्त चारों साधनों को साध लेने के पश्चात् मानव अपने मन को बाह्य वस्तुओं से हटाकर अपने वश में कर लेने में सफल हो जाता है। अर्थात् योग की जो पाँचवीं सीढ़ी प्रत्याहार है उसे पार करने में योगाभ्यासी सफल हो जाता है। मन की शक्तियों को एकत्र कर बाह्य विषयों की ओर जाने से रोक देने का नाम ही प्रत्याहार है।

इसके पश्चात् छठी सीढ़ी धारणाकी पार करनी होती है जिसके द्वारा मानव उस परम प्रभु को स्व-आत्मा में धारण करने में समर्थ हो पाता है।

इसके पश्चात् सातवीं सीढ़ी ध्यान को पार करना होता है। ध्यान के द्वारा योगाभ्यासी दिव्य ज्योति के ध्यान में मग्न हो जाने में समर्थ हो जाता है।

इन सबके अनन्तर अन्त में समाधिस्थ हो जाने में सफलता प्राप्त की जाती है जो योग की अन्तिम और आठवीं सीढ़ी है।

समाधिस्थ काल में दिव्य चक्षु खुल जाकर योगीको स्वात्मा में ही परम ज्योति परमात्मा का साक्षात्कार सतत् होता रहता है अर्थात् दिव्य ज्योति से आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर योगी आत्मजित् बन उस परम ज्योति के आनन्द में निमग्न हो जाता है। उपर्युक्त योग की आठों सीढ़ियों को क्रमशः पार करके ही योग विद्या की वास्तविक सिद्धि हो जाती है।

उपसंहार—

चित्त की सर्व प्रकार की वृत्तियों को रोक करके अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ मिला लेने को ही योग एवं मिल जाना कहा जाता है।

योग के विधान तथा पूर्ण योगाभ्यासी बन जाने के पश्चात् के कर्त्तव्य कर्मों का आगामी लेखों में पाठकों के ज्ञानार्थ वर्णन किया जावेगा।

—☼ हमारा भोजन ही औषधि है ☼—

[श्री डा० कुलरञ्जन मुकर्जी]

बहुत वर्ष पहले सुकरात ने कहा था कि पथ्य ही दवा है और पथ्य ही औषधि है। आयुर्वेद का कहना है कि बिना किसी दवा की सहायता लिए रोग उचित पथ्य से भी दूर हो सकता है, किन्तु पथ्य ठीक न हो, तो हजार दवाओं से भी रोग नहीं मिटता। वास्तव में ऐसे बहुत से खाद्य हैं, जिनसे औषधि के समान ही लाभ होता है।

समस्त सभ्य जगत् के लोग कब्जियत से तकलीफ पाते हैं और यही कारण कि करोड़ों रुपयों की औषधि प्रति वर्ष व्यवहृत की जाती है। एकमात्र अमेरिका में प्रतिवर्ष लोग ३० करोड़ डालर की रेचक दवा खाते हैं किन्तु औषधि से शरीर को अपरिमित क्षति पहुँचा कर जो लाभ प्राप्त किया जाता है, वह लाभ बीच बीच में बेल खाते रहने से भी किया जा सकता है। बेल कभी पेटमें अटका नहीं रहता वह पेट के रुके मलको धक्का देकर बाहर कर देता है बेल ऐसा फल है जिसे कच्चा-पक्का तथा सूखी अवस्था में भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त खजूर, किशमिश मुनक्का, खुरानी, अंजीर तथा सूखे फल एवं पपीता, अमरूद आदि ताजे फल सदा कोष्ठ को परिष्कृत करने में सहायक होते हैं। इसके अलावा चोकर समेत आटे की रोटी व्यवहार करने से कोष्ठबद्धता से साधारणतया मुक्त रहा जा सकता है।

ऐसे भी बहुत से आदमी हैं, जिनको दिन में कई बार शौचगृह की दौड़ लगानी पड़ती है और जिन्हें कभी मल बँधकर नहीं होता। वे सब लोग दिन में दो बार उबाला हुआ कच्चा केला खाकर इस रोग में विशेष लाभ पा सकते हैं। कच्चा केला एक प्रथम श्रेणी का खाद्य है और विभिन्न खाद्य उपादानों से समृद्ध है। बहुत कमजोर पाकस्थली के लिए भी वह बहुत सुपाच्य होता है।

पुरानी पेचिश एक कठिन व्याधि है। किसी-किसी आदमी की जिन्दगी से तो वह चिपक ही जाती है। इस रोगमें कोई भी खाद्य अच्छी तरह से नहीं पचता। लेकिन मूढ़ी (—बालू में भुना हुआ भुजिया चावल) को आठ नौ घण्टे पानी में रखकर एकदम नरम हो जाने पर अन्न के बदले में खाया जाय, तो बहुत लाभ होता है। पुरानी इमली की चटनी भी इस रोग में बहुत लाभप्रद होती है लेकिन वह वह इमली कम से कम २०-२५ वर्षों की

पुरानी होनी चाहिए। देहात में बहुतों के पास ऐसी इमली रहती है। इस रोग में दही भी बहुत लाभप्रद होता है। दही में जो जीवाणु होते हैं, पेट में उपस्थित हरेक रोग के जीवाणुओं को मार डालते हैं। इस रोग में सप्ताह में दो बार आग में भुना हुआ बेल दही के साथ मिलाकर खाना चाहिए। पुरानी पेचिश में पका हुआ केला भी बहुत अच्छा भोजन है, किन्तु केला इतना पका हुआ होना चाहिए कि उसके छिलके में काला दाग पड़ जाये।

बहुत से व्यक्तियों को पेशाब खुलासा नहीं होता। पेशाब के साथ हमेशा विभिन्न विष तथा दूषित पदार्थ शरीर से निकलता रहता है। अतः पेशाब हमेशा साफ होना चाहिए। साधारण अवस्था में नींबू के रस के साथ काफी पानी पीने से भी यथेष्ट पेशाब होता है। जहां हरा नारियल मिलता है, वहां दिन में दो तीन बार उसका पानी पी लेने से भी बहुत लाभ होता है। वह पानी शीतल, वायुनाशक, पुष्टिकर, लघु पथ्य एवं पेशाब साफ करने वाला होता है। गाजर का ऐसा गुण है कि गाजर से पेशाब की वृद्धि होती है। अतः मूत्रकृच्छ्रता में हर रोज एक गिलास कच्ची गाजर का रस पीना चाहिए।

उच्च रक्तचाप (=ब्लडप्रेशर) एक कठिन व्याधि है। यह वर्तमान सभ्य समाज की मारात्मक व्याधियों में से एक है। रक्तचाप (=ब्लडप्रेशर) में जो औषधि दी जाती है, उससे कभी स्थायी लाभ नहीं। इससे चन्द दिनों के लिए (प्रेशर) रक्तचाप कम अवश्य रहता है, किन्तु उसके बाद ही बढ़ जाता है। यदि प्रति दिन एक तोला तरबूज का बीज भून कर खाया जाय, तो रक्तचाप घट जाता है। तरबूज का बीज एक ऐसा खाद्य है, जो कभी नुकसान नहीं करता। गुड़ का शीरा तथा भुने हुए तरबूज के बीज से लड्डू बना कर उसका सेवन करना चाहिए। यह खाने में जितना स्वादिष्ट होता है, उतना ही लाभप्रद भी होता है।

मेथी का चूर्ण भी रक्तचाप घटाने में काफी सहायक है। प्रतिदिन दो आना भर की मात्रा में मेथी का चूर्ण पकी हुई तरकारी के साथ मिलाकर खाया जा सकता है। एक छटांक मेथी धूप में सुखाकर चूर्ण बनाकर कपड़छन करके ही खाद्य के साथ ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन यह चूर्ण मैदा के समान खूब महीन होना चाहिए। चूर्ण को एक बोतल में रखकर समय-समय पर धूप में रख देने से दीर्घ अवधि तक काम में लाया जा सकता है।

ब्राह्मी के पत्ते का रस भी रक्तचाप घटाने के लिए व्यवहार में लाया जा सकता है। यह बहुत लाभप्रद है। आयुर्वेद में इसे रसायन कहा है किन्तु इसे अधिक नहीं व्यवहार करना चाहिए। प्रतिदिन २० पत्ते के रस की मात्रा ही सेवन करनी चाहिए, अधिक नहीं।

(शेष पृष्ठ ३३ पर)

उपदेश का पात्रत्व

[श्री डा० शिवनारायण सक्सेना]

प्रवचन का समय हो चुका था। सभा-मण्डप श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। महर्षि याज्ञवल्क्य व्यास गद्दी पर विराजमान थे। उनके ही निकट श्रोताओं से आगे राजा जनक के बैठने के लिए एक विशेष आसन की व्यवस्था थी। पर वह आसन अब तक खाली पड़ा था। किसी विशेष कारणवश राजा निश्चित समय पर उपस्थित न हो पाए थे। महर्षि की दृष्टि राजमार्ग की ओर लगी थी। इतने में ही एक शिष्य ने पास बैठे गुरुभाई के कान में फुसफुसाते हुए कहा—'महापुरुषों का भी वैभव सम्पन्न शिष्यों के प्रति कितना लगाव होता है। केवल एक व्यक्ति के पीछे प्रवचन में विलम्ब हो रहा है।'

महर्षि ठहरे त्रिकालदर्शी। अपने शिष्यों की नस-नस पहचानने वाले। यद्यपि बात बड़े धीरे से कही गई थी पर निस्तब्ध और प्रशान्त वातावरण ने उसे महर्षि के कर्णरन्ध्रों तक पहुँचा दिया। उन्होंने सोचा जो गुरु अपने शिष्यों की सारी सुख-सुविधाओं का ध्यान रख कर उन्हें अध्यात्म के मार्ग पर निरन्तर प्रशस्त करने का प्रयास करता है उसके साथ भी यह दुर्भावनाएँ। उन्हें दुःख हुआ।

राजा जनक मंत्रि श्रेष्ठ के साथ पधारे। महर्षिने ससम्मान आसन देकर बैठने का संकेत किया। रागद्वेष से लिप्त शिष्यों के मनमें फिर हलचल मचने लगी। प्रवचन प्रारम्भ हुआ।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

यों तो लहसुन के व्यवहार से भी रक्तचाप घटता है, पर इसका भी उपयोग सीमित मात्रा में होना चाहिए। प्रतिदिन इन खाद्यों के सेवन से रोगी अपने इस कष्टमय रोग से राहत पा सकता है और मृत्यु एवं पक्षाघात से आक्रान्त होने की आशंका भी जाती रहती है।

वातव्याधि भी एक कठिन रोग है। इस रोग में हृदय प्रायः खराब हो जाता है। इसमें मूत्रस्राव तथा कोष्ठ साफ रखकर भात या रोटी के साथ प्रतिदिन कच्चा लहसुन प्रयोग में लाना चाहिए। लहसुन, ओल और अदरक भी इस रोग में लाभदायक है। लहसुन से हर प्रकार की तरकारी बन सकती है। अच्छी तरह उबालने से जब ओल नरम हो जाय, तो उसका पानी फेंक कर उसे खाना चाहिए। अदरक भी प्रत्येक तरकारी के साथ मसालों के रूप में व्यवहार किया जा सकता है या खासा खाना खाने से पहले थोड़ा सेंधा लवण के साथ ग्रहण किया जा सकता है। इससे पाचनशक्ति और भूख दोनों में वृद्धि होती है।

राजा जनक धर्म-धारणामें तन्मय हो गये, उसी समय एक राजमहल का सेवक आया, उसने अपना मुंह राजा के कान तक ले आकर कुछ कहा। राजा ने चुप रहने का संकेत किया। कठिनाई से १५ मिनट गुजरे होंगे कि एक अन्य सेवक दौड़ता हुआ आया। उसकी वाणी में घबराहट थी। उसने धीरे से कहा—'राजमहल के उत्तरी भाग में आग लग गई है।' राजा ने उसे भी चुप बैठकर प्रवचन सुनने का आदेश दिया। उनके पीछे ही तो शिष्य बैठे थे। एक शिष्य के कान में बात पड़ी तो उसने दूसरे के और दूसरे ने तीसरे के कान में फुसफुसाया।

देखते ही देखते एक एक करके शिष्यगण उठने लगे। राजमहल के उत्तरी भाग में ही तो उनकी कुटिया बनी हुई थी। दौड़ पड़े अपना आसन, उत्तरीय और अधोवस्त्र बचाने के लिए। प्रवचन अबाध गति से चलता रहा। राजा जनक तथा अन्य श्रोतागण बड़े तन्मय होकर प्रवचन सुनते रहे।

थोड़ी ही देर में सारे शिष्यगण चुपचाप सबसे पीछे आकर बैठ गये। निश्चित समय पर प्रवचन समाप्त हुआ। महर्षि ने आलोचक शिष्य की ओर देखकर तीव्र स्वर में पूछा—'तुम प्रवचन के बीच में उठकर कहां गये थे?'

'लघुशंका के लिए।'

'क्या तुम्हारे सारे भाइयों को एक साथ लघुशंका लगी थी। तुम्हें असत्य बोलते हुए भी तनिक लज्जा नहीं आती। ऐसा लगता है कि तुम्हारी लंगोटियां, उत्तरीय, आसन कमंडल जनक की धन-सम्पदा से अधिक मूल्य रखते थे। तुम्हारी पर्णकुटी शायद राजमहल से अधिक लागत में बनी होगी। अब तुम्हीं निर्णय करलो कि उपदेश का पात्रत्व तुम में है या राजा विदेह में। तुम सच्चे अधिकारी हो या राजा! संसार को इन्होंने स्वप्नवत् माना है या तुमने। माया-मोह में तुम फंसे हो या यह।'

शिष्य नत मस्तक थे। गुरुदेव की क्रुद्ध मुद्रा ने सबको आतंकित कर दिया था। उनके मनकी ईर्ष्या और मलिनता भस्मीभूत हो चुकी थी। उनके नेत्र आत्मग्लानि के जल से नम थे। प्रति उत्तर के लिए उनके पास एक भी शब्द शेष न रह गया था।

—⊛⊛⊛—

'निश्चय ही जो कोई भी उस ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।' कभी मनुष्य को ऐसा दिग्भ्रम हो जाता है कि वह दिग्भ्रम वर्षों तक दूर नहीं होता, किन्तु अपने जन्म स्थान पर आने के उसी क्षण दूर हो जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो जाता है, तब यह संसार का भ्रम क्षण भर में दूर हो जाता है।

—श्रुतिसार

दस दोहे

[श्री राघवेन्द्र तिवारी]

छल-प्रपंच में जीलिया, औ निस्सीम विवेक ।
तेरा क्या परमात्मा, परमातम के एक ॥

देख रहा परछाइयाँ, जल–आरसी–अज्ञान ।
जो प्रभु परछाईं बना, बन जावे भगवान ॥

तन जीवन की रेल में, रेल टिकिट है जीव ।
दिखा मोक्ष पा जायगा, अपनी–करम–जरीब ॥

जिनके तन पिचकारियाँ, औ' सत्कर्म गुलाल ।
धर्म रंग होली करें, छूट जाहि भव–जाल ॥

भौतिक सुख इस भाँति हैं, ज्यों मकड़ी का जाल ।
इन्द्र-धनुष के सात रंग, पर बेड़ी-विकराल ॥

जिनके देश न, धर्म-गति, नहिं समाज सत्कर्म ।
वे नर उस मरुभूमि में, कहाँ अस्थि जहि धर्म ॥

दया न जिनके हृदय में, धर्म न जिनके हाथ ।
उन चौपायों से सदा, दूर रहें रघुनाथ ॥

सूरज जिनकी आँह से, बादल सा ढक जाय ।
तिनके पातक विशद हैं, सागर में न समाय ॥

निन्दक, बक, शठ, पातकी, इनकी दूषित गंध ।
'राघवेन्द्र' तिन्ह त्यागिये, जो कि सगे सम्बन्ध ॥

जिनके गृह नहिं योग शुचि, औ श्रीगुरु सम्मान ।
'राघवेन्द्र' ना जाइये, जदपि होहिं भगवान ॥

विवेक का आश्रय

[साधुवेश में एक पथिक]

जिस प्रकार नेत्रों की सार्थकता प्रकाश के संयोग से होती है, उसी प्रकार बुद्धि की सार्थकता विवेक के संयोग से है। किसी की बुद्धि तीव्र हो, पर विवेक न हो तो उसे जीवन के लक्ष्य का या लक्ष्य-प्राप्ति के साधन-पथ का धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य और सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। न्याय तथा करुणापूर्ण दैवी विधान तथा सेवा और तप के फल से मानव-देह मिल जाने पर भी जब तक दैवी कृपा के संयोग से विवेक सुलभ नहीं होता है अथवा विवेक सुलभ होने पर भी जब तक प्रत्येक कर्म, भाव और विचार के साथ विवेक नहीं लिया जाता तब तक मानव-आकृति के पीछे मानवी प्रकृतिका निर्माण नहीं हो पाता है।

सन्तों की यह सुन्दर खरी अनुभूति है कि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है, शक्ति का अविवेक पूर्वक भोग में ही उपयोग होना पशु-जीवन है। अविवेकपूर्वक शक्ति, सम्पत्ति तथा अधिकार का उपभोग के साथ अभिमान रहना आसुरी जीवन है। शक्ति, सम्पत्ति तथा अधिकार के द्वारा दूसरों की सेवा और सबके हित का ध्यान रखना मानवी प्रकृति है। दूसरों की तथा सर्वहितकारी प्रवृत्ति की गति-विधि के द्वारा ही विवेक का परिचय मिलता है। शिक्षित होते हुए भी विवेकहीन व्यक्ति द्वारा अपने सुख-स्वार्थ की लोलुपता से अनेक बुराइयों का ही प्रसार होता रहता है, इसी-लिए शिक्षा के साथ दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा मिलने पर विवेक होता है। दीक्षा वही है जिसके द्वारा प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति और योग्यता के सदुपयोग का ज्ञान होता है। विवेक को निरन्तर साथ लेकर ही परमार्थका प्रेमी साधक सद्गति - परम गति प्राप्त करता है। विवेक के द्वारा ही साधक की तपस्या सफल होती है। कामना तथा भोगों का त्याग सुगम हो जाता है और बिखरी हुई प्रीति सब ओर से सिमिट-कर पूर्ण परमात्मा से मिलकर साधक को पूर्णता प्रदान करती है। विवेकी मानव राग-द्वेष की सीमा से अपने आपको अलग रखते हुए प्रति-कूल परिस्थिति में कष्ट सहिष्णु, गम्भीर तथा शान्त चित्त वाला और अनुकूल परिस्थिति में उदार, दानी, विनम्र तथा अभिमानरहित होता है। विवेक का परिचय हर्ष-शोक, सम्मान-अपमान, संयोग-वियोग तथा लाभ-हानि के अवसर पर बुद्धि की समता से मिलता है। विवेकी का सारा पुरुषार्थ तृष्णा के त्याग, वासना के नाश, सर्वहितकारी सेवा तथा सहा-यता और बुद्धि को सम तथा स्थिर रखने के लिए होता है।

अविवेकी प्राणी सुखोपभोग तथा मान-माया का रागी-लोभी बनकर जीवन में मिली हुई शक्ति-सम्पत्ति-योग्यता तथा अधिकार का दुरुपयोग करते हुए विनाश का दुःख देखता है। विवेकी मानव सुखासक्ति को त्यागकर मान-माया के प्रलोभन से मुक्त रहकर आत्म

शक्ति-सम्पत्ति, योग्यता तथा अधिकार का सदुपयोग करते हुए दैवी गुणों के विकास का अलौकिक सुख देखता है। अविवेकी मानव में दुर्बलताओं तथा दोषों की वृद्धि होती है, विवेकी में उनकी निवृत्ति होती है। अविवेकी प्राणी आलसी, प्रमादी और स्वच्छन्द मन वाला होता है, विवेकी सदा तत्पर, इन्द्रियजित्, सत्यनिष्ठ और बुद्धियुक्त होता है। अविवेकी प्राप्त बलों का भोगी होने के कारण उनका अभिमानी होता है, विवेकी उनका सेवा में सदुपयोग करने के कारण उन बलोंका स्वामी होता है। अविवेकी प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति आने पर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, हिंसा आदि वृत्तियों के द्वारा अपने जीवन में सब कुछ अशुद्ध-असुन्दर बना डालता है, विवेकी मानव ऐसी परिस्थिति में क्षमा, दया, सहिष्णुता, उदारता, नम्रता, सरलता और संतोष-धैर्य आदि दैवी सम्पत्ति से अपना समग्र जीवन शुद्ध सुन्दर बना लेता है। अविवेकी असार सुखों के लोभ से जीवन व्यर्थ खो देता है, विवेकी शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड आनन्द के लिए तप, त्याग, दान, ज्ञान और ध्यान कहीं भी शिथिल नहीं होने देता है। अविवेकी प्राणी जितना अधिक भोगी होता है उतना ही अधिक उसे जड़ता, पराधीनता तथा शक्तिहीनता का दुःख देखना पड़ता है।

विवेक वही है जिसके द्वारा संयोगके रहते ही वियोग, जीवन के रहते ही मृत्यु, सुख में ही उसका अन्त दुःख दीख पड़े, इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी सुन्दर—सत्य सा प्रतीत होता है वही बुद्धि दृष्टि से परिवर्तनशील—असत् दीखने लगे। विवेक के प्रकाश में जीव को संसार से कुछ पाने की लालसा नहीं रहती, जो कुछ मन के द्वारा असत् स्वीकार किया था, उसके त्याग की ही इच्छा रहती है। विवेक के प्रकाश में सब कुछ असत्—परिवर्तनयुक्त दीखता है, जो विवेक की कमी में सत्य, स्थिर तथा सुन्दर दीखता था। विवेक के प्रकाश में सत्य से मानी हुई दूरी मिटा दी जाती है और संसार से माना हुआ सम्बन्ध—वस्तु व्यक्ति से अपनत्व की स्वीकृति का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। विवेकके बिना सारी साधनायें कहीं धन तो कहीं मान या अधिकार भोगके बदले में बिक जाती हैं। विवेकके योग के बिना आर्थिक समृद्धि विलास-वृत्ति को प्रोत्साहन देती है, पदाधिकार की उन्नति कहीं दीन तो कहीं अभिमानी बनाती है। विवेकपूर्वक संतोष और संयम का आश्रय ही कल्याण साधना की भूमि है। विवेक का आश्रय लिये बिना जीवन का सारा पुरुषार्थ भूल—भ्रान्ति-अज्ञान से आच्छन्न रहता है। विवेकी मानव को ही लक्ष्य का ज्ञान होता है और जीवन की गति में उसी ज्ञान का ध्यान रहता है। विवेक के प्रकाश में अपने आपको सेवक बना लेना और सेवा करना साधना का आरम्भ है, पूर्ण प्रेमी होना साधना का अन्त है।

विवेक के प्रकाश में मानव प्राप्त वस्तु को अपनी न मानकर दाता की दी हुई मानता है, पराई वस्तु के प्रति लालची नहीं होता है, किसी का अहित नहीं चाहता है, सदा अभिमान-मोह-लोभरूपी बन्धन से मुक्त रहता है और जब चाहता है, तब अपने परम प्रियतम का भक्त बन जाता है।

सिद्धयोग द्वारा ही—

सहज समाधि की उपलब्धि ❤

[श्री डा० विजयसिंह]

कैवल्य प्राप्त होकर ही मानव आवागमन के दुस्तर चक्र से छुटकारा पाता है। योगारूढ़ व्यक्ति धीरे-धीरे त्रिगुणों से उत्पन्न प्रभावों के प्रबल-प्रवाह से अपने मनको खींचता समाधि-स्थिति में पहुंचता है। समाधि एवं अष्टांगयोग को विधिवत् आचरणगत एवं अनुभूतिगत बना लेने पर जीव को कैवल्य स्थिति की प्राप्ति हुआ करती है, परन्तु आज वस्तुतः जीव कलिकाल से पीड़ित, कठिन पापों में रत, जीवन-यापन कर रहा है। योग नाम सुनते ही उसका निर्बल मन अनेकों युक्तियों से अपने को योग-साधना के योग्य न होना स्वीकृत कर लेता है। जो सात्विक हैं वे भी गोस्वामीजी के वचनों को सहज ही उद्धृत करते हैं—

ध्यान प्रथम जुग मखविधि दूजें।
द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
कलि केवल मल मूल मलीना।
पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला।
सुमिरत समन सकल जग जाला॥

यद्यपि वे संत जी के कथन का मात्र यांत्रिक अर्थ ही करते हैं। इस लेख के माध्यम से हम ठीक-ठीक जान सकेंगे कि कब नाम एवं रूप कैसे जीव को जगत के नाम एवं रूपों से छुटकारा देने वाला हुआ करता है। साधारणतया मन्त्र एवं पवित्र नामों का जप तथा कीर्तन जो कि किसी सिद्ध पुरुष गुरुदेव द्वारा प्रदत्त नहीं है, सहसा साधक को अनुभूति पथ तक नहीं पहुँचा पाता है। अतः विलम्ब एवं अधैर्य से युक्त साधना मानव मन में निराशा एवं कुण्ठा उत्पन्न करने वाली ही सिद्ध हुआ करती है। यह सत्य है कि कोई धीर पुरुष ही यत्नपूर्वक ईश्वर साक्षात्कार कर सकता है। कठोपनिषद् से उद्धृत है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू—
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद)

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित (विषयों को ग्रहण करने वाली) बना दिया है। इसी कारण जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। जिसने जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है

ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

इस उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि बलवान् धीर पुरुष योग का अवलम्बन लेकर अभ्यास से उस कैवल्य स्थिति को प्राप्त हुआ करता है, जिसके फलस्वरूप अमरत्व जीव को प्राप्त होता है। कुण्डलनी शक्ति के जागरण एवं तत्पश्चात् सहस्रार में शिव-शक्ति मिलन की अवस्था में ही कैवल्य का द्योतक है। उपनिषदों में नाना विधियां शक्ति जागरण के लिए बतायी गयी हैं। इन विधियों की साधना निश्चित ही इस कलिकाल के क्षीण वीर्य शक्तिहीन कमजोर मन वाला प्राणी धीर पुरुष कदापि नहीं होता। अतः वह अपने इन्द्रियों की बहिर्मुखता को रोक सकने में सर्वथा असफल होता है। फिर ऐसे जीवों में यदि योग अभिरुचि धीरे-धीरे नष्ट होती गयी हो तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। तो क्या कलियुग में कैवल्य की उपलब्धि आकाश-कुसुम के समान है? इस आशय का प्रश्न स्वयं चतुर्मुख जगत् स्रष्टा श्री ब्रह्मा जी जगद्गुरु भगवान भूत-भावन शंकर जी से योगशिखोपनिषद् में करते हैं। देखें—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुः-
खैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव,
कृपया वद शंकरः॥
सर्वं सिद्धिकरं मार्गं,
मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधि-
नाशनं सुखदं वद॥

अर्थात्—संसार के समस्त प्राणी सुख-दुःख रूपी मायाजाल से घिरे हुए हैं। कृपया उनके मोक्ष प्राप्त करने की सहज विधि बतावें। जिससे वे सब सिद्धियों को प्राप्त होकर, मायाजाल काटकर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से मुक्त हो जावें।

पद्मसम्भव श्री ब्रह्मा जी को उपदेश देते हुए योगयोगेश्वर जगद्गुरु स्वयंभू ने कहा—

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं,
कैवल्यम् परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभ्यते,
नान्यथा पद्मसम्भव॥

कि—हे ब्रह्मा जी! कैवल्यरूप परमपद की प्राप्ति के अनेक उपाय कहे गये हैं, परन्तु उन समस्त उपायों से कैवल्य प्राप्त करना सहज नहीं है। एकमात्र सिद्धमार्ग या सिद्धयोग द्वारा ही सहज प्राप्त हो जाता है।

भगवान द्वारा बताये गये इस सिद्धमार्ग या सिद्धयोग का अल्प परिचय यहां प्राप्त करना समीचीन होगा। जब किसी जीव को सिद्ध सम्पर्क से सिद्ध की कृपा अथवा शक्तिपात प्राप्त होता है तब उस साधक में सहज ही मानस एकाग्रता एवं योगानुभूति जाग्रत हो जाती है। परमसिद्ध सद्गुरु की कृपा से शक्तिपातित होकर साधक अल्प प्रयास से कुण्डलनी जागरण कर लेता है। इस महाशक्ति के जागरण एवं सुषुम्ना प्रवेश मात्र से ही साधक योग के उच्च भूमिकाओं में प्रवेश पा लेता है। शक्तिपात का रहस्य एवं सद्गुरु कृपा की प्राप्ति का कारण किसी अन्य लेख में दिया जायेगा। सिद्ध द्वारा शक्तिपात सभी

का सम्पत्ता भेद से नियमानुसार हुआ करता है। सिद्धों के शक्तिपात के पूर्व, कई साधकों को पहले उनके द्वारा शक्तियुक्त मन्त्र प्राप्त हो जाता है। इन शक्तियुक्त मन्त्रों के जप से सहज ही मन एकाग्र होकर योग भूमिमें प्रवेश करता है। भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद दोनों की कथाओं में सिद्ध शक्ति पुंज देवर्षि नारद जी द्वारा शक्तिपात किये जाने का वर्णन मिलता है। ऐसे अनेकों उदाहरण पौराणिक काल की कथाओं में वर्णित है। सिद्धों की कृपासे साधक अनायास ध्यान में उन क्लिष्ट आसन, मुद्राओं एवं बन्धों का सहज करने लगता है जिसका उसे पूर्व से भी कोई ज्ञान नहीं होता। सिद्धों की अलौकिक कृपा से सहज ही साधक सम्प्रज्ञात योग की अनुभूतियाँ भी प्राप्त हो जाया करता है। श्यामाचरण लाहरी, ठाकुर महाशय विवेकानन्द अनेक लोगों का अध्यात्म जीवन सिद्धमार्ग का उत्कट प्रमाण है। रामायण जैसे भक्ति ग्रन्थ में भी श्री काकभुशुण्ड जी को लोमस ऋषि द्वारा शक्ति संचारित किये जाने पर बालक राम रूप का दर्शन इत्यादि कथायें स्वीकृत की गई हैं। स्वामी जी ने स्वयं रामचरित में ब्रह्म आभास का मूल कारण सद्गुरु कृपा ही माना है। जिसके चरण-कमलों के स्मरण मात्र से दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जावे ऐसे सिद्ध सतगुरु के समागम का ही नाम सिद्धयोग है।

अपनी बातें—

कुछ वर्ष पूर्व आनन्दकन्द योगयोगेश्वर अनादिसिद्ध श्री प्रभुजी के स्वरूप पूजन एवं आरती में (जो कि सामूहिक रूप से कछवा में सभी गुरु भाई-बहन किया करते हैं) एक ग्राम का ही नाई बालक जो स्वभाव से जिद्दी एवं अत्यन्त क्रोधी था संयोगवशात् सम्मलित हुआ। सभी लोग आरती एवं "प्रभो पाहि आपन्न ममामीश शंभो" के ध्वनि में निमग्न थे। आरती समाप्त होने पर हम सभी लोगों ने थोड़ी देर पश्चात् देखा कि वह देव जैसा काला पतला मूढ़ प्रकृति का बालक बन्द पद्मासनारूढ़, उद्धत शरीर, कुछ खींची हुई आंखें सौम्य रूप में बन्द, बिल्कुल निस्पन्द बैठा हुआ था। लोग चले आये। कुछ गुरु भाई श्री प्रभुजी की लीलाओं एवं इस अज्ञात बालक की दशा विवेचना में लगे हुए थे। घण्टा व्यतीत हुआ। अब लोग अधिक रात्रि व्यतीत हुई जानकर अधीर हो उठाने की बातें करने लगे। कुछ और समय व्यतीत हो गया तभी बालक की आंखें एकाएक खुल गयी। वह चकपकाया हुआ इधर-उधर देखने लगा। अब भी वह बन्द पद्मासनारूढ़ ही था। हम सभी लोगों ने जब उसका नाम लेकर चैतन्य करना चाहा तो उसे थोड़ीदेर बाद अपनी सहज अवस्था का ज्ञान हुआ। प्रसाद लेकर वह अपने घर चला गया। बाद में जब मैंने उससे उस दिन की अनुभूति के बारे में पूछा तो उसने प्राकृतिक भाषा में जो कुछ बताया वह इस प्रकार है—

'जब आरती शुरू हुई तब वह पीछे से आकर पूजन में सम्मिलित हुआ था। एकाएक उसकी आंखें श्री महाप्रभु जी एवं श्री प्रभुजी के स्वरूप पर आरती की ज्योति से टकरायीं। एकाएक उसकी पलकें बन्द हो गयीं। उसने बताया था कि खोलने पर भी न खुलने जैसी भारी पलकें हो गयीं। तभी उसने देखा अत्यन्त सफेद पंख वाले बहुत से पक्षी (हंस) आकाश में पता नहीं कहाँ से उमड़ आये। बड़े

ही सुन्दर ढंग से वे उड़ रहे थे। उसने कहा कि उनको उड़ते देख हमें भी उड़ान भरने का मन हुआ। और ऐसा प्रतीत हुआ कि हम भी इनके साथ उड़ सकते हैं। फिर उड़ते-उड़ते पक्षियोंके साथ वह एक उपवन में पहुँच गया। वहाँ एक सुन्दर पत्थरों से जटित तट वाले सरोवर (तालाब) में जल क्रीड़ा करने लगे। बगीचे में सारे पेड़ फलों से लदे हुए शोभाय-मान थे। वे फल यहाँ नहीं होते ऐसा उसे बताया था। तभी उसने देखा वे श्वेत पंखयुक्त पक्षी एक दिशा में तैरते हुए जा रहे थे। इधर एक सुन्दर मन्दिर था जिसमें से बड़ी तेज रोशनी (तेजपुंज) निकल रहा था। इसका देखने के पश्चात् ही उसकी आँखें खुल गयीं थी। इस घटना में साक्षात् नारायण स्वरूप श्री महाप्रभु जी के स्वप्न से हुए शक्तिपात से वह बालक जो योग शब्द से परिचित न था योग के क्लिष्ट आसन एवं अभ्यान्तरिक अनुभूति को प्राप्त हुआ था। आज वह बालक नहीं है। इस घटना के कुछ वर्ष बाद ही वह इस लोक से विदा हो गया।

श्री प्रभुजी के मात्र स्वप्न दर्शनसे नाटक एवं प्रत्यक्ष ज्योति दर्शन एवं नाना योग-लीलाओं का अनुभव हमारे अनेक निकटवर्ती गुरु-भाइयों को हुआ है और होता रहता है उन सबका वर्णन करना बौने का आकाश छूने जैसी बात होगी।

सच है! इस कलि में मात्र सिद्धोंकी कृपा से ही कोई योगारूढ़ हो सकता है—

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं
ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विचरतो,
मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदन
योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां
सिद्धये "सिद्धयोगः" ॥

—❀ सद्गुरुओं के तरीके ❀—

सद्गुरुओं की चेतना सर्वथा व्यक्ति निरपेक्ष एवं पूर्णतः विश्वव्यापी हुआ करती है। किन्तु अपने आध्यात्मिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अपने कार्य-क्षेत्र को सीमित कर सकते तथा अपने अभिव्यक्ति व्यक्तित्व को अपने शिष्यों की आकांक्षाओं का केन्द्र स्थल बनने देते हैं। वे अपने सम्पर्क में आने वाले साधकों की सहायता करने के लिए, व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा अन्य नियत प्रणालियों का उपयोग करते हैं। वे सदैव ऐसे लोगों की तलाश में रहते हैं, जिन्हें उनकी सहायता की आवश्यकता रहती है, तथा जो उनकी सहायता के अधिकारी होते हैं। वे आध्यात्मिक उत्कण्ठा के क्षीण से क्षीण स्फुरण को भी दुर्लक्ष्य नहीं करते। वे नानाविध तरीकों से सभी साधकों की आध्यात्मिक वृद्धि को प्रवर्तित तथा प्रोत्साहित करते हैं, और उनके तरीके निश्चित रूप से प्रभावशाली होते हैं, यद्यपि वे दूसरों के लिए आव-श्यकतः बुद्धिग्राह्य नहीं होते।

—श्री मेहेरबाबा

क्रिया योग

[श्री गिरीशदेव वर्मा]

एक आश्रम में एक दिन प्रातः ही गुरु जी घूमने निकले। उनके शिष्य अपनी-अपनी कुटियों में विभिन्न कार्य कर रहे थे। कोई जप कर रहा था, कोई स्वाध्याय, कोई यज्ञ, तो कोई कपड़े साफ कर रहा था। कुछ अन्य समिधा के लिए बाहर चले गये थे। गुरूजी ने देखा कि एक कुटिया के जंगले पर माला लटकी हुई है। शिष्य कहीं बाहर गया हुआ है। गुरु जी ने माला उठा ली और वहीं एक चबूतरे पर बैठ गये और माला फेरने लगे। यह कृत्य देखकर बहुत से शिष्य वहां एकत्रित हो गये। गुरूजी माला के कुछ दाने घुमाने के बाद बोले —अरे! जरा देखना मेरे कपड़े सूख गये हैं या नहीं। वे पुनः माला घुमाने लगे। थोड़ी देर में फिर बोले—सत्यदेव! आज भोजन में बेल का शर्बत लेना चाहता हूँ, जरा पता लगाना इसका प्रबन्ध हो गया या नहीं। वे पुनः जप की मुद्रामें बैठ गये। शिष्यगण आश्चर्य चकित हो गये कि आज गुरूजी क्या तमाशा कर रहे हैं, जप भी कर रहे हैं और बीच-बीच में विविध आदेश देते जा रहे हैं। धीरे-धीरे वहां बहुत से शिष्य इकट्ठे हो गये। गुरूजी ने माला अलग रख दी और बड़े जोर से हँसने लगे और कहने लगे—आजकल लोग इसी प्रकार से जप करते हैं। हाथ से माला घुमाते जाते हैं और मन से अनेक विचारों में निमग्न रहते हैं और कुछ लोग जप के बीच-बीच में बोलते जाते हैं और भांति-भांति के आदेश-निर्देश देते जाते हैं। यह जप का तरीका नहीं है कि कर में तो माला फिरे मनुआ फिरे चहुँ ओर। जप समाहित चित्त से करना चाहिए।

किन्तु आज का वातावरण इतना दूषित हो गया है कि लोगों के चित्त समाहित नहीं रहते। आज हम कोई भी काम स्थिर चित्त से नहीं करते हैं। हम जब भोजन करते हैं तो मन बाजार में चला जाता है। जब बाजार जाते हैं तब मन भोजन में चला जाता है। जब हम जप करते है तब मन सिनेमा में चला जाता है और जब हम ध्यान करते हैं तो मन बार-बार भागता ही रहता है। आज का वातावरण इतना दूषित हो गया है कि हम समाहित चित्त होकर कोई कार्य नहीं कर पाते।

भगवान् पतञ्जलि ने जब योग-दर्शन की रचना की तो प्रथम समाधि पाद के सूत्र लिखे मगर उन्हें बाद में विचार आया कि समाधि

पाद में वर्णित योग का स्वरूप, उसके भेद और उसका फल तथा सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि का विस्तार आदि तो उन लोगों के लिये है जिनका चित्त समाहित है और जिनका अन्तःकरण शुद्ध है। विक्षिप्त चित्त वाले व चंचल मन वाले योग साधन कैसे आरम्भ करें इस पर भी कुछ लिखना चाहिए। यह सोच कर उन्होंने साधन पाद की रचना की, जिसके प्रथम सूत्र में क्रिया योग का वर्णन किया, अर्थात् चंचल चित्त वालों को क्रिया योग से साधन शुरू करना चाहिए। उस क्रिया योग में पहला साधन तप को बताया। अब हम उक्त सूत्र के आधार पर इस विषय को समझने का प्रयास करेंगे।

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः।

(योग-दर्शन साधन पाद १)

अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रिया योग है।

तप—

जिस प्रकार अश्व विद्या के कुशल सारथी चंचल घोड़ों को सधाते हैं उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों को अवस्था में बिना विक्षेप के स्वस्थ शरीर व स्वच्छ मन के साथ योग मार्ग में प्रवृत्त हो सकें। शरीर में व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियों में विकार और चित्त में अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाला तप योग मार्ग में निन्दित है। कुछ लोग अपना स्वार्थ साधने के लिए अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिये राजसिक व तामसिक तप करते हैं। कुछ लोग एक हाथ उठा कर, एक पांव से खड़े होकर आग के ऊपर उल्टा झूल कर तप का ढोंग करते हैं और दुनिया वालों से पैसा वसूल करते हैं। इस प्रकार के तप त्याज्य हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसे तप वालों को आसुरी मत वाला कहा है। जो तप चित्त की प्रसन्नता के हेतु हो अथवा जिसके करने से चित्त प्रसन्नता व उल्लास को प्राप्त हो वही तप करने योग्य है।

वास्तव में तप का मतलब है—द्वन्द्वों का सहन करना। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि द्वन्द्व हैं। इनमें समत्व प्राप्त करना ही तप है। गीता में भगवान् कहते हैं कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय,
शीतोष्ण सुख दुःख दाः।
आगमापायिनोऽनित्या-
स्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते,
पुरुषं पुरुषर्षभ।

सम दुःख-सुखं धीरं,
सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख के देने वाले हैं तथा इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो आने-जाने वाले और अनित्य हैं अतएव इनको सहन कर। जिस धीर पुरुष को यह दुःख-सुख व्याकुल नहीं करते, वही मोक्ष के योग्य होता है।

आजकल सभ्यता के रंगमें रंगकर हमारी आवश्यकतायें इतनी बढ़ गई हैं कि मामूली भी गर्मी सर्दी, दुःख-सुख सहना हमारे लिए दुष्कर हो गया है। शरीर को नंगा रखना तो असभ्यता समझा जाता है। प्रकृति ने जो वस्तुयें हमें प्रदान की हैं उनका उपयोग न करके हम अप्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर रोगी व दुर्बल हो जाता है और आयु क्षीण हो जाती है। इसलिए हमको प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिए।

दाब हो हवा हो धूप हो तूफांकी छेड़-छाड़।
जंगल में पेड़ कब इन्हें लाते हैं ध्यान॥
नदिरासे रोजगारसे हिल जाय जिसका दिल।
इन्सान हो के कम है दरख्तों से शान में॥

बिना तप किये आगे का कोई साधन हो ही नहीं सकता, इसलिए तप का स्थान प्रथम रखा गया है। संसार में कोई भी काम तप बिना नहीं हो सकता।

तप बल रचइ प्रपंच विधाता।
तप बल विष्णु सकल जग त्राता॥
तप बल संभु करहिं संहारा।
तप बल शेष धरहिं महि भारा॥

तप की महिमा वेद-शास्त्रों में बहुत गाई गई है। हमारी यह लेख-माला गीतामें वर्णित तप की व्याख्या होगी। गीता में तीन प्रकार के तप बताये गये हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। यथा—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ,
पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च,
शारीरं तप उच्यते॥

अर्थ

(१) देवताओं, ब्राह्मणों, आचार्यों व विद्वानों का पूजन
(२) अन्तः व बाह्य शुद्धि
(३) सरलता
(४) ब्रह्मचर्य
(५) अहिंसा
यह पांच शारीरिक तप हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं,
सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव,
वाङ्मयं तप उच्यते॥

अर्थ

(१) जो वचन उद्वेगकारक न हों वह बोलना

(२) सत्य बोलना
(३) प्रिय बोलना
(४) हितकर वाक्य बोलना
(५) स्वाध्याय का अभ्यास
यह पाँच वाणी के तप हैं।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं,
मौनमात्म विनिग्रहः।
भाव संशुद्धिरित्ये-
तत्तपो मानसमुच्यते॥

अर्थ

(१) मन की प्रसन्नता
(२) सौम्य भाव
(३) मौन
(४) आत्म निग्रह
(५) भावना की शुद्धि
यह पाँच मानस तप हैं।

हम अपने अगले लेखों में उपर्युक्त पन्द्रह प्रकार के तप का विस्तृत वर्णन, कथा, कहानियों व अनुभूतियों के आधार पर करके यह बताने का प्रयास करेंगे कि यह तप व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार किये जा सकते हैं। अन्त में हम यह बतायेंगे कि आज की सभ्यता व मशीनी युग में तप का अभ्यास कैसे शुरू किया जावे और किस प्रकार तप के द्वारा द्वन्द्वों के सहन करने की शक्ति प्राप्त की जावे।

क्रिया योग के दो अन्य साधन अर्थात् स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान भी तप के अन्तर्गत आ जाते हैं। तप को समझ लेने पर क्रिया योग का स्वरूप स्पष्टतः समझ में आ जाता है। ■

❀ रामायण का 'रामराज्य' ❀

बयरु न कर काहू सन कोई,
राम-प्रताप विषमता खोई।
दैहिक, दैविक, भौतिक तापा,
राम-राज्य नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती,
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिहु पीरा,
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोइ अबुध न लच्छन हीना।
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी,
सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥

—महाकवि तुलसीदास

विश्वम्भर विश्व-विधाता

[श्री हरिशङ्कर शर्मा]

हे मंगलमय भगवान जगत के त्राता
हे विश्वनाथ विश्वम्भर विश्व-विधाता
तू जीवों का कल्याण-त्राण करता है
जन-मन में शुभ-सद्भाव सदा भरता है

तू सकल सृष्टि का सार आदि कारण है
ब्रह्माण्ड तुम्हीं ने किया धन्य धारण है
कर्त्ता धर्त्ता संहरता एक तुही है
गौरव-गरिमा अणु-अणु में गूँज रही है

तू माता पिता मित्र भ्राता त्राता है
तू विद्या बल धन धाम धर्म्म धाता है
तू देवों का भी देव दिव्य दाता है
कह नेति-नेति ज्ञानी गुण-गण गाता है

तू शरण-दान दे भद्र भाव उमगाता
विज्ञान-भानु से मोह महान् मिटाता
तू करुणासागर अविनाशी अक्षर है
तू सर्व श्रेष्ठ सत् अविचल अजर अमर है

है सत्य नाम ईश्वर तेरा सुखदायी
सत की महिमा ने परम प्रतिष्ठा पायी
जब अटल अहिंसा भाव जन्म लेता है
तब सत्य-रूप प्रभु तू दर्शन देता है

योगिराज श्री गम्भीर नाथ

[डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा, एम. एस. सी., पी. एच. डी.]

नाथ योगी-सम्प्रदाय भारतवर्ष की एक प्राचीन योग-साधना पद्धति का मार्ग-दर्शक रहा है। महायोगी गोरखनाथ ही इस साधना पद्धति के प्रवर्तक थे। आगे चलकर इस सम्प्रदाय में अनेक शक्ति सम्पन्न महापुरुषों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने इस योग साधना का देश के प्रत्येक भाग में प्रचार किया। आज भी इस देशके विभिन्न प्रदेशों में नाथ-पंथी योगियों द्वारा स्थापित मठ एवं आश्रम विद्यमान हैं। गोरखपुर का प्रसिद्ध गोरखनाथ मठ इन साधना-पीठों में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कहा जाता है कि एक समय महायोगी गोरखनाथ जी ने यहीं रहकर कठोर तपस्या की थी। आगे चलकर उनकी इस तपोभूमि पर इस मठ की स्थापना हुई। आज भी यह मठ नाथ-पंथी योगियों का साधना केन्द्र बना हुआ है! १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय योगी समाज में गोरखनाथ मठ के बाबा गम्भीर नाथ जी की एक महायोगी एवं ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के रूप में असीम ख्याति एवं प्रतिष्ठा थी। गम्भीर नाथ जी की सत्ता में योगविभूति, ज्ञान एवं प्रेम का अद्भुत समन्वय था। एक असाधारण योगी के रूप में उन्हें पहचानना संभव नहीं था परन्तु उस समय के महान साधक एवं ब्रह्मज्ञ पुरुष उनकी लोकोत्तर सत्ता से भली भांति परिचित थे। उनके समकालीन अनेक शक्ति सम्पन्न नाथ-योगी, धनिया पहाड़ के नानक पंथी महापुरुष ठाकुरदास, वृंदावन के स्वनामधन्य ब्रह्मज्ञ पुरुष रामदास काठिया-बाबा, प्रभु-पाद विजय कृष्ण गोस्वामी, गम्भीर नाथ जी के प्रति विशेष श्रद्धाभाव रखते थे। अनेकों बार इन महापुरुषों से गम्भीरनाथ जी के योगैश्वर्य की महिमा सुनने में आती थी। प्रभु-पाद विजय-कृष्ण गोस्वामी जी ने इन योगीवर से अनेक साधना सीख कर स्वयं को कृतार्थ माना था। इन महायोगी के सम्बन्ध में वे प्रायः अपने अन्तरंग शिष्यों से कहा करते थे "बाबा गंभीर नाथ जी क्षणभर में सृष्टि-स्थिति-प्रलय करने में समर्थ हैं"। उत्तर भारत के अनेक महात्मा एवं योगी इन महापुरुष के दर्शनार्थ गोरखपुर आया करते एवं सत्संग लाभ कर अपने को धन्य समझते। इनमें से गंगोत्री के बाबा सुन्दर-नाथ भी एक थे जिनके योगैश्वर्य की महिमा विख्यात थी। ये महापुरुष एक ही समय में अनेकों स्थानों पर कई शरीर निर्माण कर प्रगट होते देखे जाते थे। गम्भीरनाथ जी से मैत्री का व्यवहार मानते थे।

जीवन परिचय एवं नाथजी की योग-विभूतियां

गम्भीर नाथ जी का जन्म जम्मू-काश्मीर के एक छोटे से गाँव में एक समृद्ध परिवार में हुआ था। जन्म से ही बालक तीक्ष्ण बुद्धि एवं असामान्य प्रतिभा का सिद्ध हुआ। शनैः शनैः उनके जीवन में सहज वैराग्य एवं विषय-विरक्त का श्रोत प्रवाहित हो चला। उनका किशोर जीवन जन्म-जन्मान्तर के सात्विक संस्कारों से मुमुक्षु की प्रबल कामना हेतु चंचल एवं व्यग्र हो उठा। गांव के समीप ही एक श्मशान भूमि थी, जिसके एक कोने में बैठकर वे सारा दिन वहीं व्यतीत कर दिया करते। उनके मन में बार-बार यह प्रश्न उठता कि चिन्मय जगत् की ओर ले जाने वाले ज्ञानमय गुरु उन्हें कब मिलेंगे। अन्तर की व्याकुलता एवं प्रभुकृपा से उन्हें सद्‌गुरु का पता शीघ्र ही लग गया। गांव के श्मशान में कभी-कभी एक वृद्ध योगी आया करते थे। गम्भीरनाथ उनकी सेवा में पूर्णरूपेण तन्मय हो जाया करते थे। वे महात्मा भी इन्हें साधना के बारे में कुछ उपदेश देते। एक दिन जब गम्भीर नाथ उनसे दीक्षा-दान के लिए आग्रह करने लगे तो महात्मा जी ने कहा—"बेटा! मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। तुम्हारे गुरु हैं गोरखनाथ-मठ के महायोगी बाबा गोपालनाथ। तुम इन्हीं सिद्ध पुरुष का चरणाश्रय ग्रहण करो।"

बाबा गोपालनाथ उत्तर भारत के एक महान् योगी थे, इन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करने के लिए गम्भीर नाथ घर बार छोड़कर चले आये। दीक्षा ग्रहण कर, नाथ-पंथ की विशिष्ट योग-साधना को अपनाकर गम्भीरनाथ जी अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़े। नाथ-पंथी योगियों की पद्धति के अनुसार शिखा-छेदन एवं कर्णवेध आदि के पवित्र अनुष्ठान सम्पन्न हुए, परन्तु इन सबसे गम्भीर-नाथ जी की तृप्ति नहीं हुई। सर्वस्व त्याग कर परम प्रभु को प्राप्त करने की प्रबल भावना उनके अन्तर में विकसित होने लगी। उस परम वस्तु की प्राप्ति के लिये वे स्वयं को साधन, भजन एवं ध्यान में पूर्णरूपेण डुबा देना चाहते थे। परन्तु गुरुदेव ने उन्हें कुछ समय के लिए आश्रम में ही रहकर सेवा-कार्य करते हुए साधनारत रहने की आज्ञा दी। गुरुदेव की आज्ञानुसार गम्भीरनाथ जी आश्रम में रहकर भगवान गोरखनाथ जी की पूजा, गुरु महाराज की सेवा एवं अतिथि संत-महात्माओं का सत्कार एवं आश्रम के विभिन्न कार्यों में सहयोग देने लगे। प्रतिदिन के कार्य को सम्पन्न कर वे उत्साहपूर्वक अपनी साधना में रत रहते।

शिव-स्वरूप गोरखनाथ जी का तपोमय जीवन ही गम्भीरनाथ जी का आदर्श था। अतः एक दिन गुरुदेव से आज्ञा लेकर तीव्र तपश्चर्या हेतु किसी निर्जन स्थान की ओर वे

आश्रम से चल पड़े। सर्वप्रथम वे वाराणसी पहुँचे। यहाँ वे गंगा नदी के किनारे एक निर्जन स्थान में रहकर साधनारत रहने लगे। एक श्रेष्ठ साधक के रूप में उनकी ख्याति इस अंचल में धीरे-धीरे बढ़ने लगी, जिससे जन-समुदाय क्रमशः उन तक आने लगा। गम्भीरनाथ जी ने इस स्थान को अब साधना के अनुकूल न समझकर आगे की ओर प्रस्थान किया और प्रयाग में गङ्गा के किनारे झूँसी के एक एकान्त स्थान में बालू की गुफा में रह कर साधनारत रहने लगे। यहाँ उन्होंने लगभग तीन वर्ष तक कठोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप उनकी साधना-सत्ता में असाधारण योग सामर्थ्य विकसित हो उठी। यहाँ भी निर्जन परिवेश न बने रहने के कारण वे आगे चल दिये और गया के निकट ब्रह्मयोनि पहाड़ के शिखर पर कपिलधारा के निर्जन प्रदेश में पहुँच कर वे अपनी साधना में निमग्न रहने लगे। विष्णुपाद यहाँ से बहुत करीब है। सुनने में आता है कि बुद्ध एवं चैतन्य ने यहीं सिद्धि प्राप्त की थी। इसी पुण्य स्थली में गम्भीरनाथ जी की साधना पूर्णता की ओर अग्रसर हुई। यहाँ वे अन्तर्मुखी हो दिन-रात ध्यान में निमग्न रहने लगे। निर्जन पहाड़ की गुफाओं में कुछ महात्मा रहा करते थे। ये महात्मा गम्भीरनाथ जी के पास अक्सर आया करते और उनके समीप बैठकर साधना-रत होने पर सहज ही गंभीर ध्यान में डूब जाते।

कपिल धारा में गम्भीरनाथ जी के आसन के समीप कभी-कभी जंगली बाघ आ जाया करते। वे बाघ अपनी हिंस्रप्रकृति छोड़कर बड़े ही शान्त भाव से घण्टों उनके समीप बैठे रहते। धीरे-धीरे उस अञ्चल में चारों ओर उनके अमित-योगैश्वर्य की ख्याति फैलने लगी। यहाँ वे बारह वर्ष तक एक गुफा में रहकर साधना-रत रहे। प्रारम्भ में वे अपनी गुफा से १५ दिनों में एक बार बाहर निकला करते और दूर-दूर से आये हुए भक्त एवं साधुओं को जो उनकी प्रतीक्षा किया करते, आशीर्वाद देकर पुनः गुफा में प्रवेश कर जाते। एक बार वे तीन माह तक गुफा में ही रह गये। इस महान् साधना के फलस्वरूप उन्हें चिर-प्रतीक्षित उस परम वस्तु की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् उनके जीवन में तीर्थ-पर्यटन का दौर प्रारम्भ हुआ। वे तीर्थ-स्थलों का भ्रमण कर पुनः इस पुण्यस्थली ही में आ जाया करते। उनके आश्रम में इस समय भक्तों का समागम होने लगा था। क्रमशः उस निर्जन स्थान में भवन, मन्दिर आदि की स्थापना हो गई। निर्जन परिवेश न रहने के कारण गम्भीरनाथ जी इस स्थान को छोड़कर समीप में ही किसी निर्जन स्थली में निवास करने लगे। यहाँ पर उनके एक शिष्य ने दीर्घ काल तक उनकी सेवा परिचर्या की, परन्तु इस बीच उसे उनकी योग विभूति का कोई परिचय नहीं मिल सका। अतः एक दिन

उसने बाबा से यौगिक चमत्कार प्रदर्शन का बहुत ही आग्रह किया। उसे विश्वास था कि बाबा की बहुत दिनों तक तन-मन-धन से सेवा की है, अतः उसके आग्रह को वे टाल न सकेंगे। गम्भीरनाथ जी शिष्य के मनोभावों को समझ गये कि शिष्य को सेवाका अभिमान हो गया है। अतः उसके सुधारके लिए उन्होंने नाथ-सम्प्रदाय की एक प्राचीन घटना का वर्णन किया, जो इस प्रकार है—

'महायोगी गोरखनाथ एक बार तपस्यारत थे। उस समय उनके भोजन एवं परिचर्यादि का भार एक भक्त ने अपने ऊपर ले लिया था। बहुत दिनों की सेवा के बाद उस ब्राह्मण भक्त को यह विश्वास हो गया कि वह योगिराज महाराज का अत्यन्त स्नेह-भाजन बन गया है और उसका कोई भी आग्रह योगिवर नहीं टाल सकेंगे। अतः कौतूहलवश उसने एक बार योगिवर से उनकी विभूति-लीला प्रत्यक्ष करने का आग्रह किया। श्री गोरखनाथ जी ने विचार किया कि भक्त को सेवा का अहङ्कार है, अतः इसे दूर करना चाहिये। अतः उसी समय उन्होंने काफी मात्रा में दूध, चीनी एवं चावल आदि उसके सामने उगल दिये और शान्त स्वर में बोले—"देखो, जो कुछ भी तुमने हमें खिलाया था वह सब यहाँ पृथक-पृथक रूप में रखा है।" यह देख भक्त भय एवं विस्मय में डूब गया। सेवा का जो अहं उसमें था वह सदैव के लिये तिरोहित हो गया।' बाबा गम्भीरनाथ जी अपने शिष्यों के अहंभाव को नष्ट करने हेतु इस घटना को अक्सर दोहराया करते। गम्भीरनाथ जी के जीवन में उनकी महान आत्मशक्ति का प्रकाश आसपास के लोगों पर कृपा के रूप में देखा जाता। वैसे वे अपने योगैश्वर्य को सर्व साधारण में प्रकट नहीं करते थे और इन सभी शक्ति विभूतियों को प्रपंच ही कहा करते थे, परन्तु फिर भी महायोगी की योग विभूतियां विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी प्रकट हुए बिना नहीं रहती थीं।

अक्कू नामक एक दरिद्र व्यक्ति बाबा गम्भीरनाथ जी की सेवा-परिचर्या के लिए सदैव व्याकुल रहा करता था। उसकी सेवा, त्याग एवं अपनापन से योगीश्वर की स्नेहपूर्ण दृष्टि सदैव उस पर एवं उसके दरिद्र परिवार पर बनी रहती। एक बार किसी असाध्य रोग से अक्कू का शरीरान्त हो गया। शोकाकुल आत्मीयजन गम्भीरनाथ जी के समीप पहुँचे और योगीश्वर के पाँव पकड़ कर रुदन कर कहने लगे—"बाबा अक्कू को बुला लो।" स्वजनों के विलाप एवं हाहाकार ने वहाँ एक करुण दृश्य उपस्थित कर दिया। प्रशान्त व मौन योगिराज हाथ में कमण्डल लिए अक्कू की मृत शय्या तक पहुँच गये। करुणा से विगलित होकर उन्होंने कमण्डल से जल लेकर उसकी देह पर छिड़क दिया। वहां उपस्थित

जन-समुदाय ने आश्चर्य के साथ देखा कि मृत देह में धीरे-धीरे प्राण संचार होने लगा। उसे प्राण-दान देकर महायोगी अपने आसन पर लौट आये। इसके पश्चात् अक्कू बहुत दिनों तक जीता रहा।

एक बार की घटना है कि गम्भीर नाथ जी अपने कुछ भक्तगणों के साथ तीर्थाटन को गये हुए थे। मार्ग में घनघोर वर्षा होने लगी। सभी ने देखा चारों ओर जल ही जल था परन्तु जिस स्थान पर गम्भीर नाथ जी थे वहां एक बूंद भी पानी नहीं बरसा। इस घटना को देखकर सभी भक्तों एवं मार्गमें चलते अनेक साधुओं को समझने में देर नहीं लगी कि यह इन महापुरुष के योग बल से ही ऐसा घटित हुआ है। इस घटना के बाद ही उनकी ख्याति उस अंचल में चारों ओर फैल गई। लोगों की भीड़ धीरे-धीरे बढ़ने लगी। यहां तक की मार्ग में चलना भी कठिन हो गया। यह देख गम्भीर नाथ जी ने जन समूह की दृष्टि बचाकर वहां से किसी अन्य स्थली की ओर प्रस्थान कर दिया।

शनैः शनैः गम्भीर नाथ जी की ख्याति देश के साधु समाज में चारों ओर एक योग-सिद्ध महापुरुष के रूप में फैल गई। गुरुदेव गोपालनाथ जी के लीलावसान के बाद अनेक नाथ-पंथी विशिष्ठ योगीजनों ने गम्भीर नाथ जी से मठ का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए आग्रह करते, परन्तु योगेश्वर गम्भीर रूप से इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते।

धीरे-धीरे गोरखनाथ मठ के प्रबन्ध एवं संचालन आदि में कमी आने लगी। कई लोग इन कुव्यवस्थाओं को गम्भीर नाथ जी तक पहुंचाने लगे। अन्तमें गुरुधाम को इस संकट में देखकर वह उससे दूर नहीं रह सके। सुन्दर नाथ जी को महन्त पद पर कायम रखकर वे आश्रम के सभी कार्यों की सुचारु रूप से देख-रेख करने लगे। गम्भीर नाथ जी लगभग १९०५ ई० में गोरखनाथ मठ में आकर स्थाई रूप से रहने लगे। भगवान् गोरखनाथ जी के मन्दिर में ही उन्होंने अपना आसन लगा लिया। यहां अनेकों मुमुक्षु जनों एवं साधकों ने इन महायोगी का चरणाश्रय प्राप्त किया।

उनके नेतृत्व में आश्रम का संचालन स्वतः ही व्यवस्थित रूप में चलने लगा। आश्रम में रहते हुए उन्हें मौन एवं आत्मस्थ ही देखा जाता। जब कभी किसी को कुछ कहना होता तो अर्धबाह्य अवस्था में ही एक-दो बात कह कर पुनः आत्मस्थ हो जाते। उनके वाक्यों से यही पता चलता कि आश्रम सम्बन्धी कोई भी विषय ऐसा नहीं जिसके बारे में वे न जानते हों।

आश्रम के अध्यक्ष के रूप में गम्भीर नाथ जी का जीवन अत्यन्त सरल एवं आडम्बर हीन था। उनका पहनावा था एक कोपीन और दो शुभ्र वस्त्र खण्ड, एक कटि प्रदेश में

और एक शरीर के स्वाभ्य प्रदेश पर पड़ा रहता। शांत एवं दिव्योज्वल मुख मण्डल मूँछ एवं दाढ़ी से शोभित था। बड़े-बड़े सफेद बाल कंधों तक लटके हुए थे। पादुका के रूपमें सर्दैव खड़ाऊँ का ही उपयोग करते। आश्रम के जो अन्य लोग भोजन करते वही उनका भी भोजन था। अपने भोजन में किसी प्रकार की विशेषता वे कभी पसन्द नहीं करते थे। संध्या की आरती के बाद वे नाथ जी के मन्दिर की प्रदक्षिणा करते और इसके बाद गुरुदेव गोपालनाथ जी के समाधि मन्दिर के द्वार पर आकर बैठ जाते। यहीं अनेक मुमुक्षु-जनों को उनका सत्संग प्राप्त होता। घण्टों शांत एवं मौन बैठे रह कर ये भक्तजन इन भावाविष्ट महापुरुष के मुख से एक-दो वाक्य श्रवण कर अपने को धन्य समझते।

आश्रम में उत्सवों पर साधु-सन्तों को भोजन कराने की प्रथा चली आ रही थी। भोज के समय देखा जाता कि अतिथियों की संख्या कई गुनी बढ़ गई है। ऐसे समय में गम्भीरनाथ के अर्ध खुले नेत्र सजग हो जाया करते। शायद गुरुधाम एवं आदि गुरु भगवान् गोरक्षनाथ के मठ की मर्यादा को ही ध्यान में रखते हुए उन्हें अलौकिक शक्ति का व्यवहार करते देखा जाता। इन उत्सवों पर प्रायः आश्रम के कार्यकर्ता किंकर्तव्य विमूढ़ होकर बाबा की शरण में आते। बाबा किसी सेवक को अपनी एक चादर दे देते और कहते "निश्चिन्त रहो। नाथ जी की कृपा से किसी वस्तु का अभाव नहीं होगा, इस चादर से भोजन सामग्री ढक दो और एक ओर से परोसना प्रारम्भ करो।" आज्ञानुसार भोजन परोसा जाता। पश्चात् सभी आश्रमवासियों को आश्चर्य होता कि अतिथियों के तृप्त होने पर भी भोजन सामग्री प्रचुर मात्रा में बच जाती। इन महापुरुष की योग-विभूति के प्रभाव से ही भोजन-सामग्री को कभी भी ऐसे अवसर पर समाप्त होते नहीं देखा गया।

भगवान् गोरक्षनाथ जी की दोहाई देकर भक्तगण कभी-कभी बाबा गम्भीरनाथ जी को अपने योगैश्वर्य की महिमा प्रत्यक्ष करने के लिए विवश कर देते। एक बार गोरखपुर की ही एक वृद्ध महिला बाबा गम्भीर नाथ जी के शरणापन्न हुई। उसका एक पुत्र विदेश गया हुआ था जिसका ५-६ माहसे कोई भी कुशल-पत्र नहीं आया। वृद्धा पुत्र मोह से बाबा गम्भीर नाथ जी को अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करती रही और अपने पुत्र की कुशलता जानने के लिए उनसे दीनता पूर्वक प्रार्थना करने लगी। परन्तु गम्भीर नाथ जी शान्त रहे और कुछ देर पश्चात् बोले "माँ मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ विदेश की खबर मैं कैसे जान सकता हूँ।" इस पर माँ कातर स्वर में बोल उठी आप सर्व समर्थ हैं, आप सब कुछ जानते हैं। दोहाई भगवान् गोरक्षनाथजी की। आप मुझ पर दया कीजिये। करुणार्द्र होकर

गम्भीरनाथ जी ने उस वृद्ध महिलाको आश्वासन दिया और स्वयं ने अपने कमरे में प्रवेश कर द्वार बन्द कर लिया। लगभग आधे घण्टे बाद वे कमरे से निकले और वृद्ध महिला से बोले—'माँ! तुम्हारा पुत्र आगामी सोमवार को गोरखपुर आ जायेगा। वह इस समय जहाज पर है, तुम अब चिन्ता मत करो, वृद्ध माता आश्वासन पाकर वहाँ से चली गई। बाबा गम्भीरनाथ के कथनानुसार ठीक सोमवार को ही उनका पुत्र गोरखपुर आ पहुँचा। वही वृद्धा का पुत्र एक दिन अपने मित्र के साथ बाबा गम्भीरनाथ जी के दर्शनार्थ पहुँचा, उनको देखते ही वह विस्मित रह गया। तत्पश्चात् उसने मित्र को बताया कि—"जब मैं जहाज से स्वदेश लौट रहा था उस समय ये महात्मा भी मुझे एक दिन जहाज पर ही मेरी केबिन के पास से गुजरे। उन्हें देखकर मैं अपने कमरे से बाहर निकला और लगभग पाँच मिनट तक इनके साथ बातचीत भी की। इसके पश्चात् ये दूसरी ओर चले गये।" बाबा गम्भीरनाथ भी योगबल से काया-निर्माण कर उक्त महिला के पुत्र की कुशलता जानने के लिए ही उस दिन जहाज पर पहुँच गये थे। इस घटना को शनैः शनैः सभी लोग जान गये थे। महायोगी की योग विभूति का यह चमत्कार अन्यान्य अवसरों पर भी देखा गया। एक साथ अनेक स्थानों में स्थूल शरीर से उपस्थित रहने की बात उनके कई घनिष्ट शिष्यों को ज्ञात थी।

प्रारम्भ में महायोगी किसी को दीक्षा-दान करने में सहज ही तैयार नहीं होते थे, परन्तु बाद में जब वे कपिलधारा का निर्जन स्थान त्याग कर भगवान गोरखनाथ जी के मठ में आ गये तभी से अनेक लोग उनका आश्रय प्राप्त कर स्वयं को धन्य समझने लगे। लगभग १९१० ई० से गम्भीरनाथजी ने स्वयंको योगाचार्य के रूप में प्रकट किया। सिद्ध योगी के आचार्य-जीवन की भूमिका इस समय से ही आरम्भ हुई। बहुत से मुमुक्षु जन एवं भक्त उनके समीप आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर स्वयं को धन्य समझते।

गोरखपुर से दूर अञ्चल में एक व्यक्ति भगवान का बड़ा भक्त था। उसने एक दिन स्वप्न में देखा कि वह किसी सुन्दर आश्रम में पहुँच गया है। उस आश्रम में उसे एक महापुरुष के दर्शन हुए और स्वप्न में ही उनसे गुरु-दीक्षा ग्रहण कर ली। इस अद्भुत स्वप्न से उस व्यक्ति की सद्गुरु प्राप्ति के लिए व्याकुलता क्रमशः बढ़ने लगी। संयोगवश वह एक बार गोरखपुर गया। वहाँ वह गोरखनाथ मठ के भी दर्शनार्थ पहुँचा। आश्रम का दृश्य देख उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसे ऐसा लगा कि स्वप्न में उसने इसी दृश्य को देखा था और बाबा गम्भीरनाथ ही उनके

स्वप्न दृश्य गुरु है। गम्भीरनाथ जी से दीक्षा ग्रहण कर लेने के बाद उसने स्वप्न के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उत्तर में बाबा ने कहा— 'बेटा तुम्हारा संस्कार था।' इसी प्रकार किसी दूर अञ्चल के एक बालक को भी स्वप्न में गम्भीरनाथ जी की दिव्य-मूर्ति का दर्शन हुआ। वह बालक नहीं जानता था कि महात्मा कौन है! परन्तु फिर भी वह इनका चरणाश्रय पाने के लिए व्याकुल हो उठा। संयोगवश उसे एक बार गम्भीरनाथ जी का चित्र किसी भक्त के यहाँ देखने को मिल गया। चित्र के देखते ही वह पहिचान गया कि ये ही महापुरुष है, जिनके दर्शन मुझे स्वप्न में हुए थे। बालक शीघ्र पता लेकर गोरखपुर के लिए चल दिया। वह रात्रि में आश्रम पर पहुँचा। उसने देखा कि बाबा एक जलती लालटेन के सामने खाट पर बैठे हुए है, मानो उसकी प्रतीक्षा ही कर रहे हों। बालक के प्रणाम करते ही योगीश्वर ने स्नेह-पूर्ण शब्दों में कुशल समाचार पूछा और कहा कि तुम्हारे विश्राम के लिए बिस्तर आदि का पहले ही से प्रबन्ध हो चुका है। योगी गुरु गम्भीरनाथ जी की अलौकिक शक्ति से न मालूम कितने मुमुक्षु-जन इनके पास खिंचकर चले आते हैं और इनकी करुणा का स्पर्श पाकर उनका जीवन परिवर्तन हो जाता है।

अपने शिष्यों को बाबा मुख्य रूप से दो ही उपदेश दिया करते थे। पहला—गुरु एवं ईश्वर में विश्वास एवं आत्म-समर्पण की भावना एवं दूसरा—इस परिवर्तनशील माया-मय जगत के सम्बन्ध में विचार करते रहना। इस प्रकार विचार करते रहने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। उपदेशादि उनके लिए व्यावहारिक बात थी, वस्तुतः उनके द्वारा प्रदत्त दीक्षा एवं साधन के फलस्वरूप कितने ही साधु-संन्यासियों एवं शिष्यों के जीवन कृतार्थ हो रहे थे। उनके कृपापात्र शिष्यों की जब ध्यान अनुभूतियां सुनने को मिलतीं तो वे कम आश्चर्यजनक नहीं होती थीं।

महायोगी गम्भीरनाथ जी ने लगभग १२ वर्ष तक इस मठ में निवास किया। वहाँ के निवास कालमें उनका अधिकांश समय समाधि एवं ब्रह्म-ध्यान में ही व्यतीत हुआ। महायोगी बाबा गम्भीरनाथ जी का अन्तःकरण बड़ा कोमल था। कोई यदि एक बार उनकी सहायता या आश्रय की याचना करता तो उसे कभी निराश नहीं करते। दीन-दरिद्रों के वे सहायक एवं आश्रयदाता थे। अपने लीला-वसान से पूर्व वे हरिद्वार-कुम्भ-मेला में गये। हरिद्वार-कुम्भ से लौटने के दो वर्ष बाद पूर्व-निर्दिष्ट तिथि १९१७ ई० की २१ मार्च को समाधि-मग्न महायोगी ने इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया। उनके लीलावसान के बाद उनके समाधि मन्दिर के सामने प्रायः

(शेष अगले पृष्ठ पर पढ़ें)

योगसाधना क्यों और कैसे ?

[श्री पूर्णचन्द्रपन्त शास्त्री]

योग का स्वरूप

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठोपनिषद् २/१/१)

परमेश्वर ने आंख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर देखने वाले ही बनाये हैं। इसलिए जीव बाहर की वस्तुओं को ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई विरला पुण्यात्मा विद्वान पुरुष ही अमर पद पाने की इच्छा से चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तरात्मा को देखता है।

चूंकि यह जगत सत्व, रजस् और तमस् इन गुणों से उत्पन्न हुआ है। अतः समस्त सांसारिक प्राणी इन गुणों से प्रभावित होकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंच-महाभूतों की पंचतन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करते रहते हैं। अर्थात् नाक से सूंघना, जिह्वा से स्वाद लेना, आंख से देखना, त्वचा से स्पर्श करना और कान से सुनना आदि विषयों का अनुभव करते हैं।

इन्द्रियों का स्वामी मन है जो कि उन्हें विषयों को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है। मन स्वयं सत्व, रज और तम इन गुणों से प्रभावित रहता है। गुणों की न्यूनाधिकता से

(पिछले पृष्ठ का शेष)

दीन-दरिद्रजनों को आंसू बहाते देखा जाता था। उनकी आर्त पुकार सुनाई पड़ती—"बाबा ! आज आप कहां छिप गये हैं? आप कहीं भी हों, आपकी कृपा-दृष्टि हम लोगों पर बनी रहे। हमारे दुःख, कष्टों को सुनने वाला हमारे अभावों को दूर करने वाला, अब कौन रह गया है ?"

संक्षेप में श्री गम्भीरनाथ जी एक महान् योगी थे। प्रभु के लाड़ले बेटे और महात्माओं में आदर्श इस महायोगी का भारत एवं भारतीय संस्कृति चिर-ऋणी रहेगी।

महान् शक्ति को हमारा अ

मन की पांच अवस्थायें होती है— मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

(१) मूढ़:—मूढ़ावस्था में तमोगुण की प्रधानता रहती है। तमोगुण का धर्म अज्ञान और आलस्य है। अतः इस अवस्था के प्राणी प्रायः कीट, पशु आदि योनियों में होते हैं।

(२) क्षिप्त:—इस अवस्था में रजोगुण प्रधान रूप से रहता है और तमोगुण तथा सतोगुण गौणरूप से सहकारी भावमें रहते हैं। रजोगुण का धर्म प्रवृत्ति है। अतः वह मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करता है। इस श्रेणी में "खाओ-पीओ-मौज करो" का सिद्धान्त रखने वाले सामान्य सांसारिक व्यक्ति आ जाते हैं। रजोगुण के प्रभाव से उनमें काम, क्रोध, लोभ एवं अहंकार की प्रबलता रहती है।

(३) विक्षिप्त:—मन की तीसरी अवस्था विक्षिप्तावस्था है। इस अवस्था में रजोगुण और तमोगुण गौणरूप से रहते हैं। प्रधानता सतोगुण की हो जाती है। इस श्रेणीके व्यक्ति सरल तथा शान्त स्वभाव के होते हैं। धर्म में उनकी स्वाभाविक रुचि होती है। वे श्रद्धालु तथा परोपकारी होते हैं, किन्तु रजोगुण के प्रभाव से उनका मन चंचल रहता है। जिस कारण वे किसी भी काम को टिक कर नहीं कर पाते। उनमें धर्म-अधर्म, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, भोगासक्ति वैराग्य दोनों प्रकार की प्रवृत्ति बनी रहती है। फिर भी उनकी रुचि धर्म के कार्यों में अधिक रहती है।

ऐसे व्यक्ति योगसाधना द्वारा अपने प्रधान गुण (सतोगुण) को विकसित करके इसी जीवन में आत्मोद्धार कर सकते हैं।

(४) एकाग्र:—चौथी अवस्था एकाग्रावस्था है। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है। इसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई प्रभाव नहीं रहता। अतः सतोगुण के प्रकाश में चित्त अपना वास्तविक स्वरूप पहचानने लगता है। इस अवस्था में विवेकख्याति के उदय हो जाने पर उसे परमाणु से लेकर महत्तत्व पर्यन्त सभी विषयों का साक्षात्कार हो सकता है। इसी स्थिति को सम्प्रज्ञात समाधि अथवा सम्प्रज्ञात योग कहा जाता है।

(५) निरुद्धावस्था:—चित्त की पांचवीं और अन्तिम अवस्था निरुद्ध है। इस अवस्था में सभी वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। सत्वादि तीनों गुण अपनी मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं और जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था को ही असम्प्रज्ञात समाधि अथवा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। यही योगकी चरम साधना है।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना, चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना अर्थात् मन को बाहरी संसार से हटाकर अन्त-

जंगल (लड़ानी दुनिया) में ले जाना और प्रकृति पर विजय प्राप्त करके उससे आगे के विषयों का साक्षात्कार करते हुए अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होना ही योग है।

योग की निष्पत्ति संस्कृत की "युजिर्= योगे" धातुसे हुई है। जिसका अर्थ है-मिलना। अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा में मिल जाना। समाधि की परिभाषा भी यही है—

"समाधिः समस्तावस्था जीवात्मा-परमात्मनः।"

योग को तीन भागों में बांटा गया है:— ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं उपासनायोग।

(१) ज्ञानयोग: प्रकृति के तीनों गुणों से परे विशुद्ध परमात्मतत्व को यथार्थ रूपमें जान लेना ही ज्ञानयोग है। ज्ञान की पवित्रता एवं उसकी प्राप्ति का उपाय गीतामें योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बताया है :—

नहि ज्ञानेन सदृशं,
पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः,
कालेनात्मनि विन्दति॥
(४/३७)

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को दीर्घकाल तक कर्मयोग (क्रियायोग) के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में प्राप्त कर लेता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४/३४)

हे अर्जुन तू इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए महापुरुषों की शरण में जा और श्रद्धापूर्वक उनके चरणों की सेवा कर। तुम्हारे भक्तिभाव से जिज्ञासा करने पर वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश दे देंगे।

(२) कर्मयोग:—अपना शरीर, इन्द्रिय, धन-सम्पत्ति आदि सारे साधनों और उनसे होने वाले समस्त कर्मों और कर्मफल को भी ईश्वर के समर्पण करते हुए निष्काम-भाव से व्यवहार करते रहना 'कर्मयोग' कहलाता है।

कर्मयोग का स्वरूप गीताके निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट किया गया है :—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय!
तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
योगस्थः कुरु कर्माणि
संगं त्यक्त्वा धनञ्जय!
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते॥

हे अर्जुन! तू जो कुछ काम करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन (यज्ञ) करता है,

जो दान करता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे। अर्थात् उन कर्मों का कर्त्ता स्वयं को मत मान और न कर्मफल में आसक्ति रख।

हे अर्जुन ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सफलता और असफलता में समान बुद्धि रख कर योग में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्मों को कर क्योंकि समत्व ही योग कहलाता है।

(३) उपासनायोग:—किसी एक प्रत्ययका प्रवाह करना। अर्थात् मन को सब ओर से हटाकर किसी लक्ष्य विशेष पर ठहराते हुए विशुद्ध परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने की साधना उपासनायोग कहलाती है। उपासना का शब्दार्थ भी यही है—

"उप आस्यते अनेनेति उपासना"

जिस साधना के द्वारा परमात्मा के पास बैठा जा सके—वह उपासनायोग है।

उपासना योग के दो अन्तर्विभाग हैं—सहजयोग (राजयोग) एवं हठयोग।

सहजयोग:—किसी एकान्त और पवित्र स्थान पर सुखासन पर बैठकर कमर, छाती एवं गर्दन को एक सूत्रमें रखते हुए अपने शरीर के ही किसी एक स्थानमें अपने इष्ट (परमात्मा) का ध्यान करना सहजयोग कहलाता है। इसमें मन पर संयम किया जाता है। अतः इसे राजयोग कहा जाता है। मन्त्रजप की सहायता से मन को एकाग्र करने की विधि के कारण इसे ही मन्त्रयोग और ध्यान की प्रमुखता के कारण ध्यानयोग कहा जाता है।

हठयोग:—इसमें पहले तो षटकर्मों द्वारा शरीर की आन्तरिक शुद्धि की जाती है तथा तपाचरण द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की जाती है। फिर प्राणायामादि द्वारा प्राणों पर संयम करने का अभ्यास किया जाता है—

"यत्र प्राणो लीयते तत्र मनः लीयते"

इस सिद्धान्त के अनुसार हठयोगी प्राणों पर संयम करके मन एकाग्र करता है। उद्देश्य उसका भी राजयोग को सिद्ध करना ही है। हठयोग प्रदीपिका में कहा भी गया है—

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।

अर्थात् राजयोग की सिद्धी के लिए ही हठयोग की शिक्षा दी जाती है।

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। इनमें आरम्भ के पांच बहिरंग साधन हैं और अन्तिम तीन अन्तरंग।

इस प्रकार संक्षेप से योग का स्वरूप बताकर उसकी आवश्यकता को समझाने के उद्देश्य में आत्मा और परमात्मा का स्वरूप भी अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार बताने का प्रयास करूँगा।

सद्‌गुणों के उत्सव में

[श्री माँ पाण्डुचेरी]

एक समय की बात है, एक शानदार महल था। महल के बीचों-बीच एक देवस्थल था, किन्तु आज तक कोई भी उसकी चौखट नहीं लाँघ सका था—यहाँ तक कि उसकी सबसे बाहर की चहारदीवारी भी मर्त्य जीव के लिए दुष्प्रवेश थी। कारण, महल खड़ा था एक बहुत ऊँचे बादल पर और किसी भी काल में वहाँ जाने का मार्ग पा सकने वाले व्यक्ति विरले ही रहे। यह था सत्य का महल।

वहाँ एक दिन एक बड़े उत्सव का आयोजन हुआ—मनुष्य के लिए नहीं, वरन् उनसे भिन्न जनों के लिए। वे सब थे देव-देवियाँ, छोटे भी और बड़े भी, पृथ्वी पर जिन्हें सद्‌गुण के नाम से पूजते हैं।

महल का बाहरी भाग एक विशाल सभा-कक्ष था। उसकी दीवालें, उसका फर्श, उसकी छत स्वतः ही चमचमाती थीं और फिर सहस्रों प्रकाश-शिखाओं से और भी जगमगा रही थीं।

यह कक्ष था बुद्धि का। फर्श के समीप प्रकाश बहुत मन्द था—सुन्दर गाढ़े नीले रंग का, इन्द्रनील वर्ण का और छत की ओर जितनी ऊँचाई बढ़ती थी प्रकाश भी उतना ही उज्ज्वलतर होता जाता था। छत में हजारों हीरों के कुण्डल झाड़ की भाँति लटक रहे थे, जिनसे चारों ओर आँखों को चौंधियाने वाली प्रकाश की किरणें फूट रही थीं।

सद्‌गुण एक-एक करके अलग-अलग आते-जाते, पर आते ही जिसका जहाँ आकर्षण था वहीं उनके दल बनते गये। साधारणतः इस जगत् में और अन्य लोकों में वे एक-दूसरे से इतने बिछुड़े जो रहते थे, विद्वेषियों के बीच पृथक् जैसा उनका जीवन था। अन्ततः यहाँ मिलकर वे बहुत प्रसन्न हो रहे थे।

उत्सव की समानेत्री हुई सरल हृदयता। उसके वस्त्र थे निर्मल जल की भाँति पारदर्शक, हाथ में था अति विशुद्ध घनाकार स्फटिक खण्ड, जो वस्तु वस्तुतः जैसे रूप में है, उस स्फटिक खण्ड के अन्दर से वह वैसी ही दिखाई पड़ती है—बाहरी दृष्टि से जैसी दीखती है, उससे बहुत ही भिन्न रूप में। कारण, उसमें वस्तुओं का यथार्थ रूप बिना किसी विकृति के जैसा का तैसा दीख पड़ता है।

उसके पास ही विश्वस्त सङ्गिनी जैसी

खड़ी थी—विनम्रता। उसका भाव एक साथ ही था—नम्र और गर्वित। दूसरा खड़ा था साहस—ऊँचा सिर, उज्ज्वल चक्षु, दृढ़ हास्य-पूर्ण अधर, प्रशान्त निश्चिन्त भंगिमा।

साहस की बगल में हाथ में हाथ मिलाये एक महिला खड़ी थी पूरे घूँघट में। केवल उसकी तीक्ष्ण धार वाली दोनों आँखें घूँघट के भीतर से दिपदिपाती दीख पड़ती थीं। उसका नाम था सावधानता और सबके बीच वह जो कभी इसके पास, कभी उसके पास आ-जा रही थी और फिर भी सबके सन्निकट दीख पड़ती थी—उसका नाम था उदारता। वह एक ओर शान्त किन्तु सतर्क थी, दूसरी ओर कर्मरत पर संयत। जब वह लोगों के बीच से निकलती है, तब उस मार्ग में शुभ्र मृदुल प्रकाश की रेखा खिंच जाती है। यह जो प्रकाश छन छन कर छिटक रहा है, यह आ रहा है उसकी श्रेष्ठ सखी और अभिन्न सह-चरी, उसकी यमज बहन न्यायपरता की ओर से। और आ रहा है इतनी सूक्ष्मता से कि अधिकांश आँखें इस मूल को देख नहीं पातीं। उदारता को घेरे हुए एक उज्ज्वल सेना है—दया, धैर्य, श्रद्धा, मृदुता आदि अनेकानेक।

सभी वहाँ उपस्थित थे। कम से कम ऐसी उनकी धारणा थी, किन्तु यह कौन है स्वर्ण-द्वार के सम्मुख अकस्मात् उपस्थित एक नई मूर्ति ?

द्वारपालों ने उसे बहुत कठिनाई से प्रवेश करने दिया था, उन्होंने उसे पहले कभी देखा नहीं था। उसकी आकृति में भी ऐसी कोई विशेषता नहीं थी, जो उन पर प्रभाव डालती। अल्प वयस्, कोमल शरीर, उज्ज्वल वेष-भूषा, वस्त्र अति साधारण, प्रायः दरिद्र जैसे, डरती-डरती हिचकिचाती वह कुछ डग आगे आ गई थी, किन्तु स्पष्ट लक्षित होता था कि उस प्रोज्ज्वल समूह में पड़कर वह भौचक्की हो गई थी। वह खड़ी रही—कहाँ, किस ओर किसके पास जाये, समझ नहीं पा रही थी।

सावधानता ने अपने संगियों से कुछ बात की, उसके बाद उन लोगों के अनुरोध से वह अपरिचित अतिथि की ओर आगे बढ़ी। जरा सोचने का समय पाने के लिए गला साफ करके, दुविधा में पड़े लोग जैसा करते हैं, नवागता की ओर देखकर बोली—'यहाँ हम लोग जो एकत्रित हैं, सबको एक-दूसरे का नाम ज्ञात है और गुण भी, किन्तु आपको देख कर हमें विस्मय हुआ है, आप तो विदेशिनी-सी लगती हैं। आपको कभी देखा हो, ऐसा तो याद नहीं पड़ता। क्या आप कृपापूर्वक बतायेंगी कि आप कौन हैं ?'

नवागता दीर्घ निःश्वास लेती हुई बोली—'हाय ! इस महल में भी मुझे विदेशी समझा जा रहा है। किन्तु इससे मुझे विस्मय नहीं, कारण, मुझे कहीं कदाचित् ही निमन्त्रित किया जाता है। मेरा नाम है 'कृतज्ञता।'

० ०

तेरी महिमा

[श्री खुबीराम खवानिया]

सुख-दुख, पुण्य-पाप, लाभ-हानि, लेन-देन,
मान-अपमान सब कोरी कल्पनायें है।
सब के मनों का अब प्रेरक तुही है एक,
करते है हम, ये असत्य भावनायें है।
कौन देता दण्ड ? कौन देता उपहार किसे ?
कैसा स्वर्ग-सुख ? कैसी नर्क-यातनायें है ?
तेरी शतरंज की है, गोट हम प्राणी सब,
पूरी होती खेल की, यों तेरी कामनायें है।

सारे ज्ञान-बुद्धि-चतुराई-सुघराई और,
सारी शक्तियों का स्रोत तू ही भगवान है।
तू ही जन्म दे के सारी सृष्टि को सहेजता है,
तू ही सबका विनाशकारी अभिमान है।
तेरे ही घुमाये घूमते है रवि-चन्द्र-भूमि,
तू ही गुरु-पण्डित-पुजारी-पूज्यमान है।
तू ही दैत्य-दानव-मनुज-द्युतिमान देव !
अणु से भी अणु, अति अमित महान है।

तू ही देता सुमति-कुमति अनुमति-गति,
सम्पत्ति-विपत्ति, जन-जीवन-मरण है।
तू ही देता योग-क्षेम भुक्ति-मुक्ति-अनुरक्ति,
तेरे हाथ ही सभी का पोषण-भरण है।
तू ही ध्याता-ध्यान-ध्येय, तू ही ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय,
तू ही इस त्रिपुटी का कारण-करण है।
तू ही सब कुछ सबका है नाथ ! तेरे बिना,
होता नहीं पूरा कभी कोई प्रकरण है।

योग-विज्ञान द्वारा कामना-पूर्ति

[श्रीमती सरिता-चन्द्रहास शर्मा, एम० ए०, एम० एड०]

अभावों से ग्रस्त प्राणी लोक और परलोक के सभी सुखों से वंचित रहता है। जिसने अपने जीवन को ज्ञान, विज्ञान तथा आनन्द से ओतप्रोत कर लिया है उनका जीवन अपने लिए तो सुन्दर हो ही जाता है, साथ ही वह दूसरे को प्रकाशित करने की सामर्थ्य से युक्त भी हो जाया करता है। अभावों की पूर्ति के लिए मानव-प्रकृति के नाना प्रकार के विश्लेषण करता हुआ, प्रकृति के सभी साधनों में ऐसा परिवर्तन करता है कि प्रकृति उसके सुख-साधन की दासी हो जाती है। किन्तु प्रकृति के उपादानों से प्राप्त सुख अभाव की पूर्ति नहीं कर पाता है। जो सुख दूसरे के आश्रित है वह अपनी मर्जी के मुताबिक जितना चाहा जाय उतना मिल नहीं पाता। इससे मन में क्षोभ उत्पन्न होता है और मन संकल्प-विकल्प के झोंकों में चंचल हो जाता है। परिणाम यह होता है कि वह अतीत के उपभुक्त सुख की स्मृति करता है, किन्तु जो सुख बीत गया वह पुनः लौटता नहीं। इस प्रकार का चिन्तन उसके अभाव को और बढ़ा देता है। मोह-ग्रस्त प्राणी आज के सुख से भी हाथ धो बैठता है, क्योंकि आज पर उसे भरोसा नहीं है। वह भविष्य में उससे अधिक सुख की आशा करता है। फल यह होता है कि प्राणी प्रतिक्षण अभाव ग्रस्त रहकर आनन्द के सागर से वंचित रहता है और विषयों के ओसकणों से मानो प्यास बुझाने के चक्कर में क्षत-विक्षत होकर अपनी अमूल्य जीवन-लीला समाप्त कर देता है।

जो सुख पराधीन है वह कभी तृप्ति दे सकता है? संत तुलसीदास ने स्पष्ट कर दिया—

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

जो गुलामी की जिन्दगी बिता रहा है वह दूसरों के दुःख-दर्द को क्या खाक दूर करेगा? क्या खाक समाज सुधार करेगा? क्या दूसरे का नेतृत्व करेगा? जो जीते जी मुक्त नहीं हुआ वह मरने के बाद कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए जो कुछ चाहिए वह अभी और इसी जीवन में प्राप्त करना होगा। कल पर छोड़ने से—

'काल चिरैया चुग गई खेत'

वाली कहावत ही चरितार्थ होगी। जीवन के अभावों को दूर करने के लिए निज सुख की अनुभूति करनी चाहिए। गोस्वामी जी लिखते है—

निज सुख बिनु मन कबहुँक धीरा ।'

जब तक नित्य आनन्द तथा अपने प्रियतम के दर्शन का लाभ नहीं मिल जाता, तब तक दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। जब तक व्यक्ति का जीवन स्वयं जलते हुए वन की तरह है तब तक वह परिवार, कुटुम्ब या देश को शान्ति कैसे दे सकता है। मन को बाहरी सुख से कभी करार आने का नहीं। ज्यों ज्यों विषयों की मदिरा का स्वाद लगता है, त्यों-त्यों चाह भड़क उठती है, चाह ही तृप्ति नहीं होने देती। मन में अशान्ति, सन्देह, अतृप्ति आदि की सुरसा बढ़ने लगती है। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' इस गीता प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार अभाव-ग्रस्त प्राणी को शान्ति नहीं और अशान्त को स्वप्न में भी सुख के दर्शन नहीं होते। अतः जीवन में सुख, शान्ति और आनन्द चाहने वालों को आत्म तृप्ति की उपलब्धि के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में युक्त योगी के लक्षण में जीवन बनाने का सारा रहस्य उद्घाटित कर दिया है—

> ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
> कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
> युक्त इत्युच्यते योगी,
> समलोष्टाश्म काञ्चनः ॥
>
> (गीता ६/८)

जो ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गया है वह संसार को तटस्थ होकर देखने लगता है तथा उसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रित घोड़ों की तरह विषयों के पीछे न भागकर आत्मवश में हो जाती हैं। ऐसा योगी जीवनमुक्त अवस्था का आनन्द लूटा करता है। उसके लिए मिट्टी के ढेले और सोने के ढेले में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि वह यह जान लेता है कि दोनों ही तात्विक दृष्टि से किसी एक ही उपादान से बने हैं।

केवल ज्ञान से भी अभाव दूर नहीं हो पाता। ज्ञानके साथ-साथ विज्ञान का समन्वय भी आवश्यक है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्रकृति के आकर्षण विकर्षण, प्रकाश गति-विगति आदि के सिद्धान्तों का आविष्कार करता है। किन्तु यह आविष्कार यदि जीवन में क्रियात्मक रूप में प्रयोग न हो सके तो निरर्थक है। इन्जीनियर उन्हीं विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर जीवन की सुख सुविधायें बढ़ाने में नये-नये निर्माण में उन सिद्धांतों का विनियोग करता है जिससे विज्ञान जीवनोपयोगी बन पाता है, उसी प्रकार का समन्वय आध्यात्मिक ज्ञान और विज्ञान में आवश्यक है। ज्ञान की शास्त्रों में दो अवस्थायें मानी गई हैं-विद्या और अविद्या। अविद्या जागतिक प्रपंच का ज्ञान है और विद्या उस प्रपंच के संचालक का ज्ञान है। दोनों का भेद रहित बोध योगी को आवश्यक है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा कि—हे अर्जुन! कर्म, विकर्म और अकर्म सभी कुछ

ज्ञान । अन्यथा वास्तविकता और अवास्तविकता के भेद को समझे बिना, विवेक-ख्याति के बिना तेरा मोह नष्ट नहीं होगा । बिना मोह नष्ट हुए कर्त्तव्य का निश्चय और पालन नहीं कर पावेगा, सत्य का दर्शन नहीं कर पावेगा । इसीलिए भगवान् उसे विस्तार से मायावी पदार्थों का भी ज्ञान कराते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति,
कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा
मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

कर्म का सही बोध होने से अकर्म से निवृत्ति हो सकेगी । अविद्या के ज्ञान से विद्या की प्रतीति हो सकेगी । विद्यायुक्त कर्मों से विशाल आलय का निर्माण होगा जिससे प्रारब्ध कर्मों का शीघ्र भोग हो जायगा । ज्ञान में भेद बुद्धि रहती है । जगत और ईश्वर के अस्तित्व का अलग अलग भान ज्ञान कहलाता है । ज्ञानवान् क्योंकि भेद बुद्धियुक्त होता है अतः उसे नित्यानन्द की अनुभूति आसानी से हो नहीं पाती । गीता में भगवान कहते हैं—

बहूनाम् जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

अर्थात् बहुत जन्मोंके बाद ज्ञान वान् स्वरूप में प्रतिष्ठित हो पाता है । द्वैतावस्था में कैवली-भाव आ नहीं पाता, और बिना कैवली भाव के दुःख निवृत्ति हो नहीं पाती । द्वैत बिना अज्ञान के रह नहीं पाता । 'द्वैत कि बिनु अज्ञान ।' अज्ञान के रहते आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति सर्वथा असम्भव है । द्वैत की निवृत्ति ज्ञाननिष्ठा से सम्भव है । ज्ञान तो सभी प्राणियों में रहता है किन्तु वृत्तियों की तरंगें उसमें हलचल पैदा करती रहती हैं जिससे मोह, शोक, दुःख आदि की प्रतीति होती रहती है । जीवन में ज्ञान निष्ठा स्थितप्रज्ञ अवस्था में आती है । जब ज्ञान-निष्ठा इतनी दृढ़ हो जाती है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इदं सर्वं वासुदेवः 'ज्ञान एक अखण्ड सीतावर ।'—एक तत्त्व की प्रतीति से सब प्रतीत होता है तब दुःखों का नाश होता है । भगवान पतंजलि ने योग सूत्रों में संकेत किया है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघस्समाधिः ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः ।

ज्ञाननिष्ठा इतनी दृढ़ हो जाती है कि प्रभु के स्वरूप का एक क्षण को भी विस्मरण नहीं होता और जड़ जगत में आसक्ति नहीं होती । जगत के प्रपंच को देखने का लोभ नहीं होता तब प्राणी आत्मतृप्त हो पाता है और धर्म-मेघ समाधि की स्थिति होती है जिसमें सत्य दर्शन निरन्तर मेघवृष्टि की तरह होते हैं । ऐसा होने पर क्लेश कर्मों से छुट्टी हो जाती है । ज्ञानी के गिरने का भय रहता है । प्रभु की कृपा का हाथ जब तक उसके ऊपर है, सुरक्षित है । जहाँ ज्ञान का अहंकार आया प्रभु की

कृपा से उसे हाथ धोना पड़ता है। इसलिए रामायण में भगवान राम यह पूछे जाने पर कि 'आपको भक्तों में सबसे अधिक प्रिय कौन है उत्तर देते हैं—

'ज्ञानी तें पुनि मोहि विज्ञानी।'

ज्ञानी की अपेक्षा विज्ञानी प्रभुको अधिक प्यारे हैं। भगवान श्री राम अगस्त्य ऋषि के प्रिय शिष्य सुतीक्ष्ण के आश्रम पर गये। भगवान आशुतोष शंकर जगज्जननी पार्वती जी को उन सुतीक्ष्ण जी का परिचय देते हुए कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
(अरण्यकाण्ड, ६)

भगवान राम के रूप माधुर्य को देखकर ज्ञानी मुनि का हृदय आनन्द से हिलोरें लेने लगा। आनन्द उनके नेत्रों से बाहर छलक ने लगा। कण्ठ गद्‌गद् हो गया। उनके निष्काम प्रेम को देखकर प्रभु प्रसन्न हुए और उनसे कहा वर मांगो!

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही।
जो बर मागहु देउँ सो तोही॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा।
समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई।
सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

भगवान ने उसके निष्कपट तथा निष्काम हृदय को देखकर अपनी सबसे प्रिय वस्तु उसे देदी—

अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना।
होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

मुनि भगवानके दर्शन के अधिकारी तो ज्ञान से भी हो गये किन्तु प्रभु प्रसाद से वे विज्ञानी बने तब सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो गये।

कठोपनिषद् में विज्ञानी बनने का उपदेश दिया गया है। जो विज्ञानयुक्त नहीं है वह स्थिर चित्त भी नहीं हो सकता और जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप कामनाओं की गुलामी से मुक्त नहीं हो सकता फिर उसका जीवन अमृतत्व से कैसे भरा जा सकता है। कठोपनिषद् में कहा है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः। यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।"

तथा

विज्ञानं सारथिर्यस्तु,
मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति,
तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थात् जिस प्रकार अच्छे सारथी के नियन्त्रण में घोड़े होने पर कहीं गिरने का भय नहीं होता, उसी प्रकार जो विज्ञानी है तथा जिसका मन सदा अपने प्रिय में लगा हुआ है, उसकी इन्द्रियां विषयों के गर्त में उसे नहीं

गिरा सकतीं। आत्म-संयमी पवित्र जीवन-यापन करने वाला पुरुष ही ऐसे अविचल आत्म-सिद्धि के स्थान को पा सकता है, जिससे फिर उसका पतन नहीं होता। इसलिए अपने शरीर के रथ का संचालन सार्थक रूप में करने के लिए विज्ञान को सारथी बनाइये और मन की लगाम विज्ञान के सारथी के हाथों में सौंप कर अपना मार्ग निर्विघ्नता तय करते हुए अपने कैवली भाव में प्रतिष्ठित साक्षी चेतन-आत्म बनने का प्रयत्न कीजिये।

ज्ञान में द्वैत बना रहता है। द्वैत रहते गिरने का खतरा रहता है। विज्ञान में द्वैत मिट जाता है। जीव और जगत्, जड़ और चेतन सभी में यही ब्रह्म है, ऐसा बोध विज्ञानी का होता है:—

'सियाराम मय सब जग जानी।'

की स्थिति में विज्ञानी ही पहुँचता है। जो कुछ श्रवण और मनन किया था उसे अपनी जीवन की अनुभूति का विषय केवल विज्ञानी ही बना पाता है। विज्ञानी ही दूसरों को ज्ञानवान् बना सकता है। समाज में सत्य, शिव और सुन्दर का विस्तार विज्ञानी कर सकता है। यह विज्ञानी आज के अर्थों का विज्ञानी नहीं है। आज का विज्ञान जड़-जगत् को ही शक्ति का स्रोत समझे हुए, वह शक्ति तो मानता है, किन्तु आनन्द से वंचित है। शक्ति से शक्तिमान् की सत्ता अलग होती है। हमारा वैदिक विज्ञान हमें प्रकृति के विश्लेषण से संश्लेषण की ओर ले जाकर घोषणा करता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

जिससे और जिसमें यह समस्त विश्व का प्रपंच है, वह आत्मा है, ब्रह्म है। उसे जाने बिना सब कुछ जानना बेकार है—आत्म-ज्ञान बिना सब सूना। मुण्डकोपनिषद् में ऋषि उद्घोष करते हैं—

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः
आनन्द रूपममृत यद्विभाति।

उस विज्ञान से ही आनन्दस्वरूप अजर-अमर ज्योतिर्मान आत्मा का धीर पुरुष दर्शन करते हैं, आत्मा विज्ञानमय ही है।

जब व्यक्ति विज्ञानयुक्त हो जाता है, तब उसके सारे कर्म लोक-संग्रह के लिए किये गये पुण्य-पाप के संस्कारों से रहित निष्काम कर्म हो जाते हैं। उस समय वह जो कुछ देखता है वह सुन्दर बन जाता है। जड़ भी उसकी इच्छा मात्र से चेतन बन जाया करता है। महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव ने भैंसे से वेदमंत्रों का पाठ कराया था। यह कैसे सम्भव हुआ। जो सबमें एक ही आत्मतत्त्व को देखता है वह कहीं से भी कुछ परिणाम पैदा कर सकता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने युक्त का लक्षण करते हुए कहा—

यदा विनियतं चित्त,
मात्मन्येवावतिष्ठते।

निस्पृहः सर्वकामेभ्यो,
युक्त इत्युच्यते सदा ॥

जब सर्वार्थक चित्त आत्मस्थ हो जाता है, एकत्रित चित्त में आत्मा की अपार शक्ति आ जाती है, उस समय सभी कामनाओं से व्यक्ति इच्छाशून्य हो जाता है, यह अवस्था विज्ञानी-युक्त योगी की अवस्था है। संयमयुक्त चित्त में अद्भुत कार्य करने की शक्ति आ जाती है। जैसे भौतिक विज्ञान के नियमों को समझने वाला इन्जीनियर अनेक प्रकार के निर्माण करने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान होने पर संयमित चित्त वाला योगी जिस-जिस भूमिका में चित्त का प्रयोग करेगा, उस-उसमें अद्भुत कार्य कर सकता है। आकाशगमन, दूरदर्शन, दूर श्रवण से लेकर आत्मदर्शन तक सभी प्रकार की लौकिक और अलौकिक सिद्धियाँ संयमित चित्त से सम्भव हैं।

जो धारणा, ध्यान, समाधि को एकजुट करने की कला जानता है वही वास्तव में विज्ञान का विद्यार्थी है। विज्ञानवान् योगी संप्रज्ञात, असंप्रज्ञात भूमिकाओं में चित्त का विनियोग करता हुआ अपने कर्माशय को निर्बीज कर स्वरूप में स्थित होकर तीनों लोकों में क्रीड़ा करता है। जैसे खेल में आनन्द आता है वैसे योगी को जीवन में हर क्षण आनन्द की अनुभूति होती रहती है और उसके सम्पर्क में जो भी आता है, उसे भी उनके तेज से आह्लाद और शीतलता तत्क्षण मिल जाती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में विज्ञानवान् होने का प्रत्यक्ष फल बताते हुए ऋषियों ने कहा है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि-तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत।

अर्थात् संसार का केन्द्र शान्ति-मण्डल यज्ञ है। यज्ञ से ही व्यक्ति और समाज की परस्पर स्थिति है। यज्ञ व्यापक अर्थ में परोपकार है। परोपकार-परायण वही हो सकता है जो कामनाहीन होता या जिसकी अपनी सारी इच्छायें तृप्त हो गई होंगी, उसमें कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं होगा, ऐसा पुरुष विज्ञानवान् होता है। वह परोपकार भावना का विस्तार कर समाज में सुख-शान्ति का वातावरण बनाता है। निष्काम कर्म भी विज्ञानी ही करवाता है, वही ब्रह्म को जान सकता है। समस्त देव भी विज्ञान के बल पर अतिशय शक्ति सम्पन्न हैं और उपासना में अग्रणी हैं। विज्ञानी के मन से अहंकार और प्रमाद की कीचड़ धुल जाती है। उसके शरीर से कोई अशुभ कर्म नहीं होता वरन् शुभ कार्यों से उसके संचित प्रारब्ध कर्म भी नष्ट होकर निर्बीज भाव को प्राप्त हो जाया करते हैं,

फिर उसकी कौनसी ऐसी कामना है जो पूरी न हो।

छान्दोग्य उपनिषद् में विज्ञानी के धर्मों का विवेचन करते हुए कहा है—

यदा वै विजानाति अथ सत्यं वदति। नाविजानन्सत्यं वदति। विजानन्नेव सत्यं वदति। विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् इति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास।

बिना विज्ञानी बने हुए व्यक्ति सत्य को जान नहीं सकता और न निर्भय होकर सत्य भाषण कर सकता है, क्योंकि उसके मन में दूसरे से कुछ कामना होती है। जब तक कामना होगी व्यक्ति सत्य बात कह ही नहीं सकता। दूसरे का ख्याल जरूर करेगा, अतः निर्भीक तथा आकांक्षा रहित होने के लिए विज्ञानवान् बनना अभीष्ट है।

छान्दोग्य उपनिषद् में विज्ञानवान् बनने का सूत्र इस प्रकार दिया गया है—प्रथम मनन तदनन्तर श्रद्धालु होना, निष्ठा परायण होना, निष्ठायुक्त होकर निष्काम कर्म परायण द्वारा सुखानुभूति। इस सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया है—

'यदा वै मनुते विजानाति। नामत्वा विजानाति। मत्वैव विजानाति। यदा वै श्रद्धधाति अथ मनुते। नाश्रद्धधत् मनुते। श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्या। यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धाति। निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्या। निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्य। यो वै भूमाः तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

अर्थात् विज्ञानी बनने के लिए पहले जगत् का बोध शास्त्र तथा सन्तों से प्राप्त करना अपेक्षित है, क्योंकि बिना बोध हुए विवेक नहीं होता, जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा है—

> जाने बिन न होइ परतीती।
> बिन परतीति होई नहिं प्रीती॥
> प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।
> जिमि खगेश जल के चिकनाई॥

श्रद्धा के बिना बोध नहीं होता, अतः गुरु, शास्त्र तथा सन्तों में श्रद्धा हो तभी ज्ञान होगा। बुद्धि के संशय से निवृत्त होकर जब तक एकाग्रता नहीं आती, तब तक श्रद्धा भी नहीं हो सकती। श्रद्धा होने पर ज्ञाननिष्ठा होती है तभी विज्ञान-सम्मत निष्कर्मता आती है। निष्कर्मता से ही जीवन में अभाव तथा आकांक्षाओं की परिपूर्ति हो जाती है और समत्व दृष्टि, सम्यक् कर्म, सम्यक् बोध आदि सभी सहज हो जाया करते हैं। इसलिए गोस्वामी जी विज्ञानी भक्त को ऊँचा दर्जा देते हैं। उनका मत है—

> 'बिन विज्ञान न समता आवइ।'

तथा बिना समता के आत्म-सिद्धि नहीं हो सकती और आत्म दर्शन के बिना अभावों का अभाव नहीं हो सकता।

साधना से आनन्द

[श्री मुरारीलाल शर्मा, 'शान्त' अवकाश प्राप्त जिला विद्यालय-निरीक्षक]

मनुष्य जीवन में आनन्द की प्राप्ति चाहता है और उसी के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है, परन्तु वह जितना प्रयास करता है, उतना ही अन्धकार पाता है और मृत्यु के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई नहीं देता। क्योंकि उसके प्रयास बहिर्मुखी होते हैं और वह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं कर पाता।

मानव उसकी तथाकथित समृद्धि में प्रवृत्त रहता है, जो उसकी आन्तरिक दरिद्रता का ही लक्षण है।

आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद खोजते हैं और आत्म-दरिद्रता से ग्रसित धन और सम्पदा। मनुष्य अन्तर की प्यास बाहरी उपकरणों से प्राप्त जल द्वारा बुझाना चाहता है। आन्तरिक पलायन बाह्य स्वामित्व से पूर्ण होना कब सम्भव है?

आत्मा तो सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही आनन्द है। आनन्द मोक्ष है और मुक्ति आनन्द है। यदि अभाव आन्तरिक है तो बाहर की किसी वस्तु से उसका भराव सम्भव नहीं है।

पूर्णात्पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

की ओर ध्यान दें तो हमें उस पूर्ण की प्राप्ति का उपाय करना चाहिये।

बाह्य संसार की समस्त उपलब्धियाँ कदापि आन्तरिक अभाव को तुष्ट नहीं कर पातीं क्योंकि सब कुछ प्राप्त होने पर भी हम यही कह पाते हैं कि यह कमी है।

आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है अतः उसे प्राप्त करने के लिए साधना करनी चाहिये। सुख को आनन्द की संज्ञा देना उचित नहीं है। सुख नाशवान् है और आनन्द चिरन्तन है। सुख का अनुसरण दुःख की परिणिति है।

अतः मानव को सुख के पीछे न पड़कर अपने हृदय कपाट खोलने चाहिए और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बना कर उसका सतत् अभ्यास करना चाहिए।

हम कभी नहीं सोचते कि हमारा स्वरूप क्या है और हमारे हृदय में ही परब्रह्म परमात्मा की अलौकिक शक्ति छिपी हुई है। कबीर जी कहते हैं:-

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखै नाँहि॥

और देखिये :—

(शेष पृष्ठ ७० पर)

योग की आधार-शिला-ब्रह्मचर्य

[श्री किशोरीलाल शास्त्री, झांसी]

पिछले लेखों में बताया जा चुका है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए मानव को आगे बढ़ते रहना है। या यों कहिये कि मानव शरीर की प्राप्ति के उद्देश्य को पूरा करना है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सदा निरन्तर गति से आगे बढ़ते रहना है। परन्तु इस सुदूरस्थित लक्ष्य तक पहुंचने के लिए बल की आवश्यकता पर विचार करने से निश्चित हुआ है कि योगाभ्यास के द्वारा ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यद्यपि युद्ध में सम्मुख मृत्यु से भी मोक्ष प्राप्ति कही है, पर यह साधन सभी को हर समय नहीं प्राप्त हो सकता, तथा उसका लक्ष्य स्वदेश रक्षा में वीरों को प्रवृत्त करना ही है :—

> द्वावेव हि विज्ञानोयात्,
> सूर्यमण्डल भेदिनौ।
> परिव्राट् योगायुक्तश्च,
> रंणेचाभिमुखेहतः ॥

इससे योगाभ्यास ही मुख्य साधन हुआ। योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

इन आठों अङ्गों में भी नारदजी आसन को नहीं मानते, उसके बदले में ध्येय को योग का अंग मानते हैं, क्योंकि ध्येय के बिना किसका ध्यान किया जायगा? अस्तु, इस

(पिछले पृष्ठ का शेष)

> जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
> भीतर बाहर पानी।
> फूटा घट जल जलहि समाना,
> ये तत् जानें ज्ञानी ॥

बस यदि हम इस तथ्य को जान लें और और हृदय की समस्त वासनाओं को निकाल कर नित्य-प्रति शून्य हृदय में 'स्व' का दर्शन करने के अभ्यास का साधना करें तो सम्भव ही नहीं ध्रुव सत्य है कि हमें अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने लगेगा और हम सच्चे आनन्द का अनुभव करने लगेंगे। इसी साधना का नाम योग है।

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।" ❀❀

विषय में पिछले अंकों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, अब तो केवल यम का ही विचार करना है।

योग अंगों में प्रथम यम ५ प्रकार का है—

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"

नियम भी ५ प्रकार के हैं—

"शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि।"

आसन मुख्य २ हैं—

"कर चरणादि विशेष स्थापना लक्षणानि पद्मस्वस्तिक सिद्धादीनि।"

प्राणायाम भी मुख्य ३ हैं—

"रेचक पूरक कुम्भक लक्षणाः प्राण निग्रहोपायाः।"

प्रत्याहार ११ प्रकार का है—

"इन्द्रियाणां स्व-स्व विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।"

धारणा—

"अद्वितीयं वस्तुनि अन्तरिन्द्रिय धारणम्।"

अर्थात् मन को ब्रह्म चिन्तन में लगाना ही धारणा है। पातंजल योग दर्शन में धारणा का लक्षण—"देशबंधः चित्तस्य धारणा" अर्थात् चित्त का किसी एक वस्तु में स्थायी रूप से लगा देना धारणा है ऐसा लिखा है। जो साधारण व्यवहार में भी देखा जाता है, जैसा कि किसी विषय में किसी से सम्मति पूछते हुए कहते हैं कि इसके सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है? यह तो साधारण लौकिक बात है जो अल्प समय में ही अपना निर्णय देती है। ब्रह्म में धारणा स्थिर करना तो बहुत समय तक अभ्यास करने पर ही सिद्ध हो सकेगी। इसके लिए गरुड़ पुराण में स्पष्ट समय का निर्देश है—

प्राणायामैर्द्वादशभिः,
यावान्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्काल पर्यन्तं,
मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

अर्थात् १२ प्राणायाम करने में जितना समय लगे, उतने समय तक मन को ब्रह्म में लगाना चाहिए। यह बात बहुत काल साध्य निरन्तर अभ्यास से ही सिद्ध हो पाती है। इसके अन्तरायों से सावधानी से मुक्ति पाने पर ही ध्यान की स्थिति बनती है।

ध्यान का लक्षण निम्नांकित है—

तत्राद्वितीय वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रिय वृत्ति प्रवाहो ध्यानम्।

अर्थात् उस अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तः इन्द्रिय (मन) का बार-बार रुक-रुक कर चिन्तन करते हुए लगा रहना ध्यान है। यद्यपि रुक-रुककर लगा रहना विघ्नों से शून्य

नहीं है, फिर भी और कोई दूसरा मार्ग भी तो नहीं है, क्योंकि मन तो बड़ा ही चंचल है। जब मन सगुण वस्तुओं के आकर्षण से भाग निकलता है, तब निर्गुण ब्रह्म में स्थायी रूप से लग जायगा, यह तो असंभव ही प्रतीत होता है। जैसाकि अर्जुन ने योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी से कहा है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्

इस बात को सुनकर भगवान् ने भी यही कहा है कि—हे अर्जुन! अभ्यास के द्वारा और इन्द्रियों के विषयों (रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द) में वैराग्य के द्वारा ही मन को स्थिर किया जाता है। इस वाक्य में भी अभ्यास शब्द का अर्थ रुक-रुककर बार-बार लगाना ही है। अनुभव में भी यही स्थिति देखी जाती है। इससे साधक को यह समझकर ध्यान को छोड़ना नहीं चाहिए। प्रत्युत मन को अधिक समय तक ध्येयाकार वृत्ति में स्थित रखने का ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से जलधारा के समान ध्यान प्रवाहित होता रहता है। परन्तु यह जलधारा तुल्य प्रवाह जरा-सी असावधानी होने पर रुक भी जाता है। अतएव इस ध्यान के प्रवाह को इतना दृढ़ बनाने की आवश्यकता है, ताकि वह मधु की धारा के समान टूटने पर भी बिल्कुल न टूट कर बार-बार स्वयं प्रवाहित होता रहे, तभी सही ध्यान हो सकेगा और मन फिर सावधान होकर ध्येयाकार हो जाया करेगा। पातंजल योग-दर्शन में ध्यान का लक्षण इसी प्रकार से कहा गया है—

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'

अर्थात् ध्येय के ज्ञान का स्थिर हो जाना ही ध्यान है, जो धारणा के द्वारा प्रारम्भ होता है। यहाँ सूत्र में तत्र शब्द लक्ष्य (ध्येय) का ही बोधक है, क्योंकि धारणा ध्येय (लक्ष्य) में ही की जाती है। मन में ध्येय का प्रतिबिम्बित होने लगना ही ध्यान है और मन में बार-बार ध्येय की स्मृति का लगातार आने लगना धारणा है। इस सूत्र के भाष्य में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास जी के अनुभव को बहुत सावधान मन से समझने की आवश्यकता है :—

भाष्यम्—तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्यप्रत्ययस्यैकतानता, सदृशप्रवाहः, प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टोध्यानम्।

(विभूतिपाद २)

अर्थः—धारणा के आधार भूत केन्द्रों में ध्येय का स्थाई प्रत्यक्ष ज्ञान, धारा प्रवाह के समान, अविच्छिन्न अबाध गति से चालू बना रहे और उसमें ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का ज्ञान उदित न हो तब ध्यान कहलाता है। यह अवस्था तभी आती है जब मन बाह्य-विषयों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। मन की बाह्य विषयों से मुक्ति तभी होती है जब पूर्ण ब्रह्मचर्य का बल हो। ब्रह्मचर्य का

पूर्ण बल तभी प्राप्त होता है जब मन किसी भी इन्द्रिय के विषय में कभी भी आसक्त न हुआ हो। क्योंकि अगर मन एक बार भी किसी इन्द्रिय के विषय के रस में आनन्द का अनुभव कर लेता है तो मन पर ग्रामोफोन के रिकार्ड के समान उसकी रेखा खिंच जाती है और अपने आप उसका संस्कार जागृत होता रहता है। यदि मन पर विषय रस के के अनुभव का संस्कार नहीं होता तो उद्दीपन सामग्री होते हुए भी मन इन्द्रियों के विषय भोगने की इच्छा से शून्य रहता है और अपने ध्येय में तल्लीन रहता है। जैसे हनुमान जी लंका में रावण के महलों में सीताजी को देखने के लिए गये और वहाँ संभोग शृंगार समस्त उद्दीपन विभागों को देखा पर उनके मनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ था। इसका वर्णन आदि कवि श्री वाल्मीकि जी ने अपनी रामायण में स्पष्ट रूप से किया है:—

"वीक्षमाणोप्यसंत्रस्तः, प्रासादांश्च-चचार सः।"

(वा० रा० सुन्दर-काण्ड सर्ग ६)

इससे स्पष्ट ज्ञात हुआ कि ध्येय की एकाग्रता के लिए ब्रह्मचर्य की अखण्डता की शक्ति ही मुख्य साधन है। श्री मारुतिनन्दन हनुमान जी तो ब्रह्मचर्य की मूर्ति है। उनके शरीर के प्रत्येक परमाणु में ब्रह्मचर्य की अखण्ड शक्ति विद्यमान थी। तभी तो लंका जलाने के बाद जब उन्होंने समुद्र में स्नान किया और समुद्र में उनके शरीर का स्वेद (पसीना) गिरा, तो उस पसीने के जल को पी लेने मात्र से मछली के उदर से मकरध्वज की उत्पत्ति हुई थी, पाताल (अमेरिका) में अहिरावण के यहाँ द्वारपाल थे। जब अहिरावण राम, लक्ष्मण को लङ्का से हरण कर ले गया था, तब हनुमान जी पाताल गये और मकरध्वज को युद्ध में जीतकर परिचय प्राप्त किया और श्रीराम, लक्ष्मण को छुड़ाकर लाये। इससे प्रत्येक साधक को ब्रह्मचर्य व्रत का सावधानी से पालन करना चाहिए, तभी लक्ष्य प्राप्त हो सकेगी।

❀ समाधिस्थ हो ❀

▪ परमात्म-तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। स्थूल दृष्टिसे उनका अनुभव—ज्ञान सम्भव नहीं। अत्यन्त शुद्ध बुद्धि वाले श्रेष्ठ साधकों द्वारा वह तत्त्व समाधिपूर्वक अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण से जानने योग्य है।

▪ श्रवण से सौगुना मनन, मनसे लाखगुना निदिध्यासन और निर्विकल्प समाधि अनन्तगुना है, ऐसा जाने।

▪ योग का प्रथम द्वार है—वाणी का नियमन, अपरिग्रह, आशा न रखना, अपेक्षा, इच्छा न रखना और रोज थोड़ी देर एकान्त में रहना। —गुरु बोध

महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत —

योग वाशिष्ठ का तत्त्वज्ञान : भगवान् राम का वैराग्य

[स्वामी श्री चिदानन्द सरस्वती]

श्री रामचन्द्रजी विद्याभ्यास पूरा करके पिताजी की आज्ञा से तीर्थयात्रा और देशाटन करने के लिए गये। वहां से लौटने पर उनको संसार के पदार्थों के प्रति इतना तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ कि वे नित्य-नैमित्तिक कर्म तथा भोजनादि व्यवहार से भी उदासीन होकर एकान्त में रहने लगे। इसी समय विश्वामित्र मुनि महाराज दशरथ की सभा में आये और अपने यज्ञ की रक्षाके लिए श्री रामचन्द्रजी की मांग की। महाराज दशरथ ने उस समय श्री रामचन्द्रजी के चित्त की जो दशा थी, उसको बतलाकर उसके लिए विश्वामित्रजी से उपाय पूछा। तब विश्वामित्र जी ने श्री रामचन्द्र जी को सभा में बुलाया और उनसे उनकी स्थिति पूछी। श्री रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया—'इस जगत्में कोई भी पदार्थ अविनाशी या आनन्द-दायक नहीं है। मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर अनादिकाल से जो दुःखदायक विषय-सेवन करता आ रहा है, उसी का फल उसे ही फिर प्रत्येक जन्म में भोगना पड़ रहा है। तथापि वास्तविक सुख या सन्तोष इन भोग-पदार्थों में उसे नहीं मिलता और अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करने में ही वह आयु गवां देता है तथा असहाय होकर मृत्यु की शरण लेता है। मृत्युके बाद वह फिर जन्मता है, फिर मरता है और फिर जन्मता है। इस प्रकार अनादिकाल से जन्म-मरण और विषयों के दुःखों के प्रवाह में बहा करता है। हम बहुधा कहा करते हैं कि यह जगत् सर्वथा मिथ्या है, तथापि हम इसका मोह नहीं छोड़ पाते। प्रतिदिन हमारे सामने अनेकों प्राणी तथा पदार्थ नष्ट होते जा रहे हैं, तथापि हमको अपनी मृत्यु तथा संसार की नश्वरता का विश्वास नहीं होता। इसलिए आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिए कि जिसके द्वारा मैं इस जन्म-मरणरूप शोक-सागर से पार उतर सकूं।'

यह सुनकर श्री विश्वामित्रजी ने श्रीवसिष्ठ जी से कहा—'आप श्री रामचन्द्रजी को ऐसा

उपदेश दीजिए, जिससे इनका अज्ञानान्धकार दूर हो जाय।' इस पर श्रीवशिष्ठ मुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को 'महा रामायण' नाम का जो शास्त्रोपदेश दिया, वही 'योगवाशिष्ठ' कहलाता है। इसमें श्रीवशिष्ठ मुनिने श्रीरामचन्द्रजी से ब्रह्मस्वरूप की प्राप्तिके उपायस्वरूप योग का निरूपण किया है। इसलिए यह ग्रन्थ 'श्रीयोगवाशिष्ठ महा रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है।

× × ×

श्री वशिष्ठ मुनि बोले—'हे राम ! तुम वासना से रहित और वीतराग होकर, शत्रु-मित्र तथा उदासीन पुरुषों के प्रति यथायोग्य व्यवहार करते हुए, शान्त और शुद्ध केवल एक चिन्मात्र परम तत्त्व की ही भावना रखो तथा नित्य अन्तर्मुख होकर रहो। हर्ष होने वाले प्रसंगो में हर्षित रहो और दुःख के प्रसंग में दुःखी बन जाओ।' दीन-हीन मनुष्यों के ऊपर दया करते रहो और वीर पुरुषोंके लिए वीर्यवान् बनो। अपने आत्मा में ही चित्त को रमाकर सदा आनन्द में रहकर शान्तिके द्वारा उदारता का आश्रय लेकर, असंग भाव से तुम जो कुछ कर्म करते हो, उसके तुम कर्ता नहीं हो, ऐसा समझो।

'फिर, जाग्रत अवस्था में व्यवहार करते हुए भी सुषुप्ति अवस्था की भांति निःसंकल्प वृत्ति के द्वारा किसी भी पदार्थ में प्रियत्व का आरोपण करके उसे ग्रहण न करो तथा किसी भी वस्तु में अप्रियत्व का आरोपण कर उसका त्याग न करो, बल्कि यथायोग्य प्राप्त व्यवहार करते रहो। इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए अनादि अनन्त अद्वितीय परम पद को तुम प्राप्त हो जाओ।

'बाहर जो-जो रूप आदि विषय दीखते हैं, अन्दर जो संकल्प आदि होते हैं, भूत-भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल तथा जो कुछ भी जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि देखने में आते हैं, वे सब परम आनन्दमय महाचिदाकाश रूप ही हैं। सारे वृक्ष के साररूप सूक्ष्म बीजके भीतर, उससे भी अति सूक्ष्म और साररूप जो कुछ रहता है, वह परब्रह्म रूप ही है और वही फिर अंकुर, धड़, शाखा इत्यादि एक के बाद दूसरा, उत्तरोत्तर होने वाले कार्यों में अग्रसर होकर विवर्तभाव से बीजरूप बनता है। इस प्रकार वस्तुतः देखने पर यह परब्रह्म निरन्तर अपने स्वरूप में ही रहता है। जो-जो किसी कार्य वर्ग की अपेक्षा से सूक्ष्मता के कारण अपने कारण रूप में रहता है, वह ब्रह्मरूप है, अथवा जो ब्रह्म सबसे अति सूक्ष्म आत्मा रूप में सर्वत्र विद्यमान है, वही फिर विवर्त-भाव के द्वारा बृहद् रूप धारण करके तत्तत् वस्तुरूप हो जाता है। सर्वत्र ब्रह्म ही फैला हुआ है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं है।

'यहाँ मैं भी नहीं, जगत् भी नहीं और

ब्रह्म आदि शब्द भी नहीं। केवल शान्त एक प्रकाशतत्त्व ही सर्वरूप हो रहा है। तब फिर कर्त्ता और भोक्ता कौन तथा कहां से होगा ? तथा जन्म और मृत्यु भी किसका होगा ? इससे यह सिद्ध होता है कि सब कुछ चिदाभास से ओतप्रोत है और यह चिदाभास भी, उसके जड़ अंशों को पृथक् करने पर चेतन अंश से आत्मारूप है। इस प्रकार सब आत्मारूप है और आत्मा के विवर्तरूप में भास रहा है, अर्थात् अहंकार सहित यह समस्त जगत् परमात्मा से तनिक भी पृथक् नहीं है। जैसा स्वप्न में और संकल्प में द्रष्टा स्वयं ही अनेक रूपों में भासता है, उसी प्रकार जाग्रत में भी द्रष्टारूप आत्म-चैतन्य ही जगत् के आकार में विवर्तरूप में भासमान होता है। जल जैसे एकरूप होने पर भी तरंगरूप बन जाता है, उसी प्रकार यह आत्मसत्ता अद्वितीय होने पर भी अवयवयुक्त जगत् के आकार में भासित होती है।

'बुदबुद जल में जैसे जल से भिन्न भासता है वैसे ही यह मिथ्या प्रपञ्च आत्मा से भिन्न भासता है।'

यह सुनकर श्री रामचन्द्र जी बोले—'हे मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी ! आप जो कहते हैं, यदि वैसा ही है और अहंकार आदि कुछ भी नहीं है तो 'मैं' इस व्यवहार के आधारभूत आप स्वयं 'वशिष्ठ मुनि' नाम धारण कर रहे हैं, उसकी यहां संगति कैसे बैठेगी ?'

श्रीरामचन्द्रजी की बात सुनकर श्रीवशिष्ठ जी आधी घड़ी तक चुप रहे। ऐसी स्थिति में 'इसका क्या हेतु होगा'—इस प्रकार के विचार में सब सभासदों को मग्न देखकर श्रीरामचन्द्र जी फिर बोले—'हे समर्थ गुरु ! आप क्यों मौन धारण कर रहे हैं, यह मेरी समझमें नहीं आता। यथार्थ उत्तर देकर मेरे मन को शान्त कीजिये।'

श्री वशिष्ठ जी बोले—'मैं कुछ बोलता नहीं, इससे यह मत समझो कि तुम्हारे प्रश्न का असम्भव होने के कारण मुझे कोई युक्ति नहीं सूझ रही है। परन्तु तुम्हारे पूछे प्रश्न के उत्तर में केवल मौन ही परम अवधि रूप है, इसलिए इस मौनमें ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है यही तुमको समझना है।'

'प्रश्न करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं। एक ज्ञानी और दूसरे अज्ञानी। इनमें अज्ञानी पुरुष को अज्ञान कोटि में रहकर उत्तर देना चाहिए और ज्ञानी को ज्ञान कोटि में रह कर उत्तर देना चाहिए। जैसे गवाक्ष के रन्ध्र में पड़ने वाली सूर्य किरण त्रसरेणुओं से भरी होती है, उसी प्रकार चाहे सूक्ष्म अर्थ वाला हो या विशेष अर्थ वाला, थोड़ा हो या बहुत, परन्तु जितना हो वाणी का व्यवहार है, वह सब (१) अभाव (२) किसी असाधारण धर्म के कारण अपने दूसरे से भिन्न (३) एक-दो आदि संख्या परिमाण वाला और (४) भूत-

भविष्य आदि काल वाला—इत्यादि कल्पना-कल्मष से लिप्त होता है। तत्त्वज्ञ पुरुष को कल्पनामय उपदेश देना ठीक नहीं और कोई वाणी ऐसी नहीं है जो उस प्रकार के कल्पना-कल्मष से मुक्त हो। तुम्हारे जैसे विवेकी और तत्त्ववेत्ता शिष्य के लिए जो यथार्थ हो वही कहना चाहिए और यथार्थ बात तो अन्त से रहित केवल शान्त मौन ही है, ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं। ब्रह्मतत्त्व जो परमपद रूप है उसको तत्त्वज्ञान होने से पहले शिष्यों को उपदेश के द्वारा बोध कराने के लिए अज्ञान के कारण वाणी के विषय के रूप में कल्पित करते हैं। परन्तु विचार के द्वारा इस परमपद का स्वरूप जाना जाता है। यह तत्त्व वाणी का विषय ही नहीं है, इसलिए इसमें मौन रखना ही उचित है। अतः मैंने तुम्हारे प्रश्न का मौन रूप में ही सुन्दर उत्तर दिया है। जो पुरुष वाणी के लिए अगम्य परमपद में स्थित है, वह वाणीरूप कल्मषको क्यों ग्रहण करेगा ? अर्थात् नहीं ग्रहण करेगा। इस अवर्ण्य परम तत्त्व के विषय में वाणी के द्वारा हम कोई व्यवहार नहीं कर सकते, क्योंकि वाणी अनेक कल्पनाओं कल्मष से भरी हुई होती है।'

यह सुनकर श्री रामचन्द्र जी बोले—'अभाव तथा दूसरों से पृथक्त्व आदि जो-जो दोष वाणी के विषयमें आपने बताये, उस सारे दोष-भाग के ऊपर कोई ध्यान न दे करके, भाग त्याग लक्षण के द्वारा 'आप कौन हैं'—यह मुझको समझाइये।'

तब श्री वशिष्ठ मुनि बोले—'हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी ! यदि ऐसी बात है तो फिर तुम कौन हो ? मैं कौन हूँ ? तथा यह जगत क्या है ?—इत्यादि विषयों पर विस्तारपूर्वक कहता हूँ, उसे तुम ध्यान देकर सुनो। तुम्हें दीखने वाला यह मैं स्वयं देहादि जड़ दृश्य वर्ग से रहित, सर्व कल्पनाओं के द्वारा अगम्य, निर्विकार, शुद्ध चिदाकाश रूप हूँ। केवल मैं एक ही स्वच्छ चिदाकाश रूप हूँ—ऐसी बात नहीं। परन्तु तुम भी चिदाकाशरूप हो और यह अखिल विश्व भी चिदाकाशरूप ही है। सारांश यह है कि जो कुछ है वह सब शुद्ध चिदाकाश रूप ही है।

'मैं वस्तुतः इस अपने 'वशिष्ठ' नाम वाले देह रूप में नहीं हूँ। एकमात्र ब्रह्मसत्ता ही मानो तुम्हारे लिए वशिष्ठ आदि आकार वाली हो रही दीखती है; और तुम्हारे लिए ब्रह्मसत्ता ही विवर्त भाव से मानो वाणी रूप हो गई है, ऐसा भासता है। पर मेरी दृष्टि में यह कुछ भी वास्तविक सत्य नहीं है।

'मैं अमुक नाम-रूप वाला हूँ'—यह अहंकार ही मोक्ष का अभाव रूप है, फिर भला अहंकार के द्वारा मोक्ष के अनुभव की बात कैसे घट सकती है ?—अर्थात् नहीं घट सकती। इस अहंकार को बनाये रखकर इसके द्वारा

मोक्ष को अनुभव करने की बात, जन्मान्ध मनुष्य को चित्र का दर्शन होने के समान ही असम्भव है। अपने स्वरूप के भीतर अहंकार प्राण आदि का संचरण हो या न हो, पर स्वयं जड़ न होकर साक्षी भाव में जड़ पाषाण के समान अपना निश्चल बने रहना ही परम निर्वाणरूप है, क्योंकि यह पद वृद्धि-ह्रास आदि सर्व विकारों से रहित है। जैसे अपने चित्त में होने वाले घटादि वस्तु का स्फुरण अपने सिवा दूसरों से नहीं जाना जाता, उसी प्रकार यह परम स्थिति भी स्वसंवेद्य है, अर्थात् दूसरों के द्वारा नहीं जानी जा सकती। बल्कि लोकैषणा से रहित हो जाने वाले विवेकी वीतराग पुरुष को स्वयं ही अनुभूति होती है।

'शुद्ध चिदात्मा का जब चित्त के द्वारा बहिर्मुखपन होता है, तब जड़ दृश्य वर्ग में व्याप्त रहने वाली क्रिया की उसमें प्रतीति होती है और यही जन्म-मृत्यु का हेतुरूप है, बन्धनकारक है तथा महाक्लेशप्रद है। जब इस शुद्ध चिदात्मा का चित्त के द्वारा बहिर्मुखपना बन्द होकर अन्तर्मुखपन ही रह जाता है, तब जड़ दृश्य वर्ग में व्याप्त रहने वाली क्रिया की उसमें प्रतीति ही नहीं होती। यह स्थिति मोक्षरूप है, शान्त है अक्षय है और परमपद रूप है।'

'स्वप्न में दीखने वाले दृश्य प्रपञ्चमें तत्तत् वासना के अनुसार चिदात्मा में स्फुरित न हो वाले संकल्प चिदात्मा से भिन्न न होने पर भी भिन्नवत् दीखते हैं। इसी प्रकार जाग्रत में भी अपना आत्मा ही बहिर्मुख होकर मानो दृश्य प्रपञ्चरूप में पृथक् हुआ सा भासता है। इसी प्रकार—

आत्मनो जायते विश्वमा-
त्मन्येव विलीयते।
आत्माऽऽत्ममायया बद्धो
बिभर्ति विविधास्तनूः ॥

आत्मा ते उपज्यो जगत्,
आत्मा में लय होय।
निज माया में बँधि गयो,
धारि विविध तनु सोय ॥

'सर्व दृश्यमात्र का निषेध हो जाने पर अवशिष्ट शुद्ध चिन्मात्र में तथा शून्य में क्या अन्तर है? यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन दोनों के अन्तर को विवेकी पुरुष ही जानते हैं। इसका वाणी के द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। जैसे अँधेरे में बड़े प्रयत्नपूर्वक चक्षु को स्थिर करके देखिये तो सद्रूप और असद्रूप—ऐसा कुछ अनिर्वचनीय आभास देखने में आता है। उसी प्रकार ब्रह्म के अन्दर यह जगत् कुछ अनिर्वचनीय रूप में भासित होता है। यदि मैं वासना से रहित होकर अन्तर्मुख हो रहूँ तो मैं स्वयं चिदाकाशरूप ही हूँ। तुम भी यदि किसी वस्तुमें वासना न बांधो तो चिदाकाश रूप ही हो। दूसरा भी कोई

पुरुष वासना से रहित होकर 'मैं चिदाकाशरूप हूँ'—ऐसे निश्चय वाला हो तो वह ज्ञान-सम्पन्न ही है। विवेक का उदय होने पर मनुष्य ज्ञान सम्पन्न होकर तत्त्ववेत्ता और जीवन्मुक्त हो जाता है और अविद्या का उदय होने पर अज्ञानी बनकर पशु वृक्षादि अधम योनियों में भटकता है।

'जैसे आकाश में भ्रान्तिके कारण श्यामता दीख पड़ती है, उसी प्रकार परमात्मा के भीतर भ्रान्ति के द्वारा लोक लोकान्तर देखने में आते हैं। वस्तुतः जैसे आकाश श्यामादि वर्ण से रहित है, वैसे ही वस्तुतः परमात्मा भी सर्व दृश्य वर्ग से रहित है। 'यह सारा दृश्य असत् है'—ऐसी जिसकी दृढ़ भावना होती है, वह पुरुष सर्वथा वासनारहित ही है। जैसे संकल्प के भीतर स्वप्न, माया, इन्द्रजाल आदि अद्भुत चमत्कार दीखते हैं, उसी प्रकार यह संसार भी संकल्प के भीतर स्थित एक अद्भुत चमत्कार है। जैसे प्रत्यक्ष दीखने वाले स्वप्नादि प्रपञ्च में आस्था (सत्यत्व बुद्धि) रखना उचित नहीं, उसी प्रकार यह संसार जो प्रत्यक्ष दीखता है, पर संकल्पमात्र है, इसमें भी आस्था नहीं रखनी चाहिए। कर्ता और भोक्ता, दोनों के असम्भव होने के कारण दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है। पुण्य भी नहीं है, पाप भी नहीं है। तथा किसी का कुछ भी नाश को भी प्राप्त नहीं होता।

'यह परम मङ्गलमय चिदात्मा, प्राण, बुद्धि मन और देह इत्यादि में तादात्म्य भाव को प्राप्त होकर नाना प्रकार के स्वभावों को धारण करके संसार सम्बन्धी अनेकों अनर्थों के द्वारा व्याप्त है, ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है। तथापि इन सब बातों का निराकरण करके चिदात्मा की दुःख विहीनता, निरतिशय आनन्दमयता अवशेष रह जाती है—इसके प्रतिपादन करने में वेदान्त-शास्त्र में बतलाये 'अध्यारोप और अपवाद' का आश्रय लेने के सिवा दूसरी कोई युक्ति नहीं है। फिर, आत्म-तत्त्व निरतिशय आनन्द रूप है, निर्विकार है और कूटस्थ है, उसको चञ्चल और परिच्छिन्न चित्त रूप में तथा देह-इन्द्रिय आदि के द्वारा अनेकों रूपों वाले हो जाने तथा जन्म मृत्यु आदि के चक्कर में घसीटे जाने में भी 'विवर्तवाद' के सिवा दूसरी कोई युक्ति नहीं है।

'इस प्रकार इन सब बातों को घटाने के लिए यदि आत्मा को अवयवी मान लें तो भी वह जड़ अवयवों द्वारा बना है या चेतन-अवयवों द्वारा—यह बात विवादग्रस्त रह जाती है। चाहे जैसे मान लें, परन्तु अवयव के नाश के साथ आत्मा भी नाश होकर 'कृतहान' और 'अकृताभ्यागम'—ये दोष आ जाते हैं, अतएव विवर्तवाद ही उचित जान पड़ता है।

'फिर यह आत्मतत्त्व जगत का कारण रूप है तथा इसको निर्विकार और कूटस्थ मानते हैं। वही चिदात्मा जगत्‌की सृष्टि करने में तदनुरूप संकल्प वाले चित्त के रूप से प्रवृत्त

होकर स्वयं नाना प्रकार के प्रपञ्च के रूप में (विराट रूपमें) पृथ्वी आदि अवयवों को धारण करके अवयवी बन रहा है। इसे सिद्ध करने में भी अध्यारोप और अपवाद से युक्त विवर्त-वाद का आश्रय लिए बिना दूसरी कोई युक्ति नहीं, इसलिए यही सर्वोत्तम है।

'दृश्य का अभाव सिद्ध करने जायँ तो आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रहेगा—ऐसी यदि कोई नास्तिक शंका करता है तो वह शंका यहां टिक नहीं सकती, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने वाले नास्तिक पुरुषका अपना आत्मा सिद्ध हो जानेसे उसका निषेध सम्भव नहीं। वह नास्तिक अपने से पृथक् दीख पड़ने वाले दृश्य के आत्मा का निषेध करता है, पर अपने आत्माका निषेध नहीं कर सकता और आत्म तत्त्व तो सर्वत्र एक ही है, अतएव अपना आत्मा ही सर्वात्मा है। इस प्रकार दृश्यका निषेध सिद्ध हो जाता है, परंतु गूढ़ रीति से आत्मा का अस्तित्व तो कायम ही रह जाता है।

'इसलिए हे रामचन्द्रजी! तुम ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा सेवित किसी के भी द्वारा छीने न जाने वाली, निर्विकार, शान्त, जन्मादि भाव-विकारों से रहित, अजय, महामंगलमय, सर्वत्र समान रूप में अवस्थित जो नित्य सिद्ध परम-पद है, तद्रूप होकर रहो और व्यवहार में दूसरे लोगोंके समान खाओ-पीओ, क्रीड़ा करो, तो भी तुम मुक्त ही हो, क्योंकि दृश्य जाल से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है।'

'हे प्रिय रामचन्द्रजी! तुम जैसे घट-पटादि पदार्थों को तटस्थ भाव से स्वयं साक्षी रूप में अलग रहकर देखा करते हो, उसी प्रकार अपने शरीर को अहंकार-मन-बुद्धि तथा अनु-भव आदि को भी स्वयं उनसे पृथक् रहकर, किसी से ममता या आत्मभाव अभिमान न करके साक्षी रूपसे देखा करो और फिर बाहर जो कुछ भी जगत् के पदार्थोंके समूह के प्रवाह देखने में आते हैं, उनके सम्बन्ध में तथा भीतर मन-बुद्धि आदि जो कुछ हैं उनके सम्बन्ध में कुछ भी संकल्प न करके, उन सबको मिथ्या समझकर अपने आत्मा के ज्ञान-स्वरूप को पहचानकर तुम अपनी स्वाभाविक स्थिति में ही रहो। इस जीवन्मुक्त दशा की स्थिति ऐसी है कि इसमें सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दुःख, राग या द्वेष लगते ही नहीं, क्योंकि सब कुछ आत्ममय ही होने के कारण उसमें कर्त्तापन या भोक्तापन कुछ भी नहीं रह जाता।'

ऊपर के विवरणसे विज्ञ पाठकों के ध्यानमें आ गया होगा कि श्रीयोगवाशिष्ठ विवर्तवाद का प्रतिपादन करता है। जब तक शरीर है, तब तक अध्यारोप दृष्टि से जगत् को व्याव-हारिक सत्ता वाला मानकर यथाप्राप्त व्यवहार करने का अनुरोध करता है। उसकी पद्धति उसी के शब्दों में इस प्रकार है—

'हे रामचन्द्रजी ! माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि का बाहरी प्रसंग तुमको स्नेह में दृढ़ता-पूर्वक बाँधने वाला न हो तथा पूर्णतया स्नेह-रहित भी न होओ; बल्कि वे कुछ अनिर्वचनीय रूप में प्रकाशित रहें और इस कारण तुम चित्र में अंकित दीप के समान साक्षी रूप में सबको प्रकाशित करने वाले तथा केवल आभास रूप में स्नेह-अस्नेह आदि भाव को धारण करने वाले बनो। वासना से रहित वर्तमान भोगों के सम्बन्ध में वैराग्ययुक्त तथा भावी विषय-सुखके प्रति निःस्पृह होकर आत्म-सुखमें विश्राम करो। कर्ता-भोक्तापन के अभि-मान से रहित और राग-द्वेष आदि दोषों से रहित तत्त्वज्ञ पुरुष का मुख्य लक्षण यही है कि लक्ष्य की ओर ध्यान रखते हुए अपने योग्य व्यवहारों के विषय में शास्त्रविहित वर्णाश्रम-धर्म में तथा शम दम आदि साधनों में भली-भाँति दृढ़तापूर्वक रहे। स्वेच्छाचार करना विवेकी पुरुष का लक्षण नहीं है।

'हे प्रिय रामचन्द्र जी ! यह देह जीवन-पर्यन्त, जब तक शरीर जीता है तब तक कर्म किये बिना रह नहीं सकता; इसलिए यथाप्राप्त सदाचार का ही पालन अव्यग्र होकर किया करो। दूसरे व्यवहारों का तुम्हें क्या प्रयोजन है ?—कुछ भी नहीं। अपने वर्णाश्रम के क्रम को छोड़कर किसी दूसरे प्रकार से और दूसरे ही विषय को क्रिया करने से क्या लाभ है ? यदि शुभ-अशुभ दोनों ही मार्गों में झुति करना समान ही है तो फिर शुभ मार्ग में ही चलना उचित है इसमें क्या दोष है ?—कुछ भी नहीं।'

'हे रामचन्द्र जी ! सिद्धि-असिद्धि में तुल्य रहने वाली निरन्तर स्वच्छ और निर्विकार बुद्धिके द्वारा जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है वह सर्वथा दोषरहित ही है।'

'संसार-सागर से तरने के लिए वनवासी होना कोई हेतु नहीं। स्वदेश में रहते हुए कष्ट-प्रद तपस्या करना भी उसके कारण नहीं। क्रिया का त्याग करना या क्रिया का आश्रय करना—ये भी संसार से तरने के हेतुरूप नहीं तथा सत्कर्मसे प्राप्त होने वाली ख्याति, लाभ, ऐश्वर्य, वरदान और शाप देने की सामर्थ्य आदि भी उसमें हेतुभूत नहीं है। संसार-सागर से तरने में तो तत्त्वज्ञान ही कारण है, जिसका मन कहीं आसक्त नहीं है, वह संसार-सागर से तर गया, ऐसा समझना चाहिए।'

निर्मल ब्रह्मरूप इस जगत्‌के भीतर प्रकृति रूप, मलरूप, विकाररूप, उपाधिरूप और बौध आदि रूप कुछ भी कहीं भी है ही नहीं, किन्तु अनादिसिद्ध चिद्रूप ब्रह्ममात्र ही है और 'वह मैं स्वयं हूँ'—ऐसा मानकर मुझसे निःशंक होकर रहो।

इस जगत् में हित, मित और मेध्य आहार की प्राप्ति के लिए श्रुति-स्मृति और शिष्ट पुरुषों के द्वारा अनिन्दित अपने वर्णाश्रम के उचित कर्मों को करना चाहिए। आहार का

उपयोग केवल प्राण-धारण हो सके, इसी उद्देश्य से करना चाहिए। प्राण-धारण तत्त्व-जिज्ञासा के लिए करना है और तत्त्व-ज्ञान इसलिए प्राप्त करना है कि पुनः संसार के जन्म मरणके चक्कर में पड़कर दुःख न भोगना पड़े।

'निष्ठा परिपक्व होने पर अपवाद दृष्टि से जगत को ब्रह्मरूप देखने का अभ्यास बनाये रखने के लिए भी कहते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि व्यवहार कालमें अध्यारोप दृष्टि का अवलम्बन बनाये रखना और दूसरे कालमें अपवाददृष्टि को स्थिर रखना, चित्तमें तनिकभी विक्षेप न होने देना तथा शुद्ध चिन्मय स्वरूप में स्थित रहना चाहिए। परमात्मा सबको ऐसी शक्ति प्रदान करे।'

बस, श्रीयोगवासिष्ठका तत्त्वज्ञान तो इतना ही है पर इस निबन्ध को बांच लेने से या कण्ठस्थ कर लेने से अथवा मूल ग्रंथके ३२००० श्लोक पढ़ लेनेसे ही कुछ बन जाने वाला नहीं है। तत्त्वज्ञान के लिए तो पहले आवश्यकता है—अधिकार प्राप्त करने की। पर्याप्त कामना-रहित विशुद्ध कर्म और उपासना से चित्त के मल और विक्षेप—दोषको दूर करना चाहिए। साथ-साथ विवेक-वैराग्य आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिए। उसके बाद जो स्वाध्याय करना हो, वह भाव और प्रेमसे करके उस पर खूब मनन करना चाहिए और मनन करते-करते उस विषय को निदिध्यासन के द्वारा जीवनमें उतरना चाहिए। इतना करने से मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छूटे बिना नहीं रह सकता—

वेदान्तार्हतसांख्यसौगत-
गुरुत्र्यक्षादिसूक्तादृशो,
ब्रह्मैव स्फुरितं तथात्मकल-
यास्तादात्म्यनित्यं यतः।
तेषां चात्मविदोऽनुरूप-
मखिलं स्वर्गं फलं तद्भवत्यस्य,
ब्रह्मण ईदृगेव महिमा
सर्वात्म यत्तद्वपुः॥

(योगवासिष्ठ १७३/२४ उ०)

वेदान्त, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक, पशुपति-भैरव आदि शास्त्रों में जिन विचारों का प्रतिपादन हुआ है, उन सबके रूप में ब्रह्म ही स्फुरित होता है, क्योंकि आत्मकला से वही तादात्म्य रूप बनता है और उनके सिद्धान्तानुरूप सारे स्वर्ग-फल, पारलौकिक इहलौकिक सुखरूप भी ब्रह्म ही है, क्योंकि अमुक प्रकार का फल हमको प्राप्त हो। इस प्रकार की आशा की उत्पत्ति उनके आत्मा में ही होती है। ब्रह्म की ऐसी लोकोत्तर महिमा ही है, यह स्वयं मायाके योगसे सर्वात्मस्वरूप बन रहा है।

—卐ॐ卐—

माया नगरी !

[श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य']

देव ! तुम्हारी माया-नगरी,
मैंने जी भरकर देखी है।
फिर भी लगता है कुछ ऐसा,
शायद मेरी अनदेखी है !

पल-पल में होता रहता है,
इसमें परिवर्तन कुछ ऐसा।
जिसको आज निहारा जैसा,
कल वह नहीं मिलेगा वैसा !

ढह ढह कर कुछ बन जाता है,
बन बन कर कुछ ढह जाता है।
खँडहर बनता महल, महल फिर,
खँडहर बनकर रह जाता है !

देकर दो अंकुर धरती को,
बीज स्वयं तो गल जाता है।
बीज बहुत से देने को पर,
अंकुर बढ़कर फल लाता है !

जिसका होता जन्म-मरण से,
उसका नाता जुड़ जाता है।
जिसका होता मरण-जन्म को—
ओर वही फिर मुड़ जाता है !

सृजन और संहार साथ ही—
साथ यहाँ चलते डगरी में।
वैषम्यों का साम्य अनोखा,
देखा मैंने इस नगरी में !

देख यहाँ का रचना-कौशल,
विस्मित होकर रह जाता हूँ।
एक अलौकिक रस-धारा में,
चित्रलिखा सा बह जाता हूँ॥

तुम से कहकर यह आया था,
'आऊँगा मैं लौट सवेरे।'
लेकिन इस नगरी में मैंने,
जमा लिये हैं अपने डेरे॥

बरबस मुझे बुला लोगे तो,
होगी भाग्य-विफलता मेरी।
ऐसी कौन सम्पदा-श्री है,
जिसकी यहाँ नहीं है ढेरी!

अनगिनती से रंग, रूप में,
तुम भी तो इसमें रहते हो।
'छोड़ो इस मायानगरी को,'
मुझसे फिर क्यों यह कहते हो॥

जिसने खोजा उसे मिले तुम,
इस नगरी की गली-गली में।
गहराई से देखा तो तुम—
मुखरित पाये कली-कली में॥

जबकि तुम्हारा नित्य तत्व ही,
आश्रय है इस कल्याणी का।
'स्वप्न सृष्टि सी यह अनित्य है,'
मूल्यमान क्या इस वाणी का?

यदि तुम रहते हो इसमें तो,
मुझको भी जीभर रहने दो।
तुम हो शाश्वत मैं भी शाश्वत,
समता के रस में बहने दो॥

योगीश्वर अवस्था निरूपण

[श्री पंत महाराज, बेलगांव]

सात्त्विक, राजस, तामस इन तीन गुण भेदों से देखा जाय तो योगीको छः प्रकार की अवस्था प्राप्त होती है। योगीश्वर को निरयात्मक गुण से बाल उन्मत्त और पिशाच। ये तीन अवस्थायें सत्वादि गुण क्रमानुसार प्राप्त होती है। "वह यह" इस भेद रहित बुद्धियोग से नानाविधि विधि-निषेध त्याग से प्रपंच में निराकल्प से, योगीश्वर को बाल, उन्मत्त और पिशाच ये तीन अवस्थायें क्रम से प्राप्त होती हैं। ऊपर दी हुई तीन अवस्थायें बिना कर्मी, मौनी, मुद्रात्मक ये तीन अवस्थायें सर्वात्मकत्व से योगीश्वर को सत्त्वादि गुणानुसार क्रमसे प्राप्त होती है। योगीश्वर कारी अवस्था भेदों से युक्त होकर रजोगुण लीला अर्थात् रजोगुण लीला धारण करके, जग के जनों के बीच रहकर निर्मल आत्मलीला निष्ठ होकर संचार करते रहते हैं। सब में ही ऐसा जानने वाला ज्ञान सर्वात्मक और सब कुछ हम नहीं, हम सबसे पृथक्—ऐसी भावना निरयात्मक। ऐसे दो प्रकार के बोध हैं। समुद्र की अपनी तरंग, सब अपना उदक ही।

(१) अपने तरंग उदक ये स्वकल्पित.

(२) बिना निरात्मा कुछ भी नहीं। "आत्मा ही जग" "आत्मा जग नहीं" ये दो प्रकार के बोध दीखते हैं।

ऊपर बताये गये सर्वात्मक, निरयात्मक इन द्विविध बोधों में योगीजन वैयाकरणी, मौनी इन दो प्रकार से रहते हैं। उनका विचार सुना—"अमुक, तमुक" यह भेदभाव बहाकर प्रीति पुरस्सर परतत्त्व का बोध सभी में समबुद्धि करने वाला इस जगमें सद्विचार हस्त्या वैयाकरणी कहलाता है। किसी के भी संग में न रहकर परतत्त्व विचार, किसी को भी किंचित भी न बताकर सोरतर जीवात्म सुख में सुस्थिर होकर रहने वाला मौनी कहलाता है। कमल जल में उत्पन्न होकर उसमें ही बढ़कर हर समय उसी में वास करके भी उससे अलिप्त रहता है। उसी प्रकार योगीश्वर सम्पूर्ण संसार में रहे तो भी किसी से लिप्त न होते हुए खुद पृथक् ही रहता है, यह भेद सिद्ध है।

प्रापञ्चिक जन योगीश्वर का महत्त्व न जानकर भ्रमिष्ट स्वयं घूमते रहकर सब संसार

ही फिरता है, ऐसी भावना करते। योगीश्वर का महत्त्व न जानने वाले बुद्धिहीन उसे अपने जैसा ही विषय-लोलुप समझते हैं।

योगीश्वर को ब्रह्म इत्यादि महापातक, अशुचि विधि निषेध वह कैसा भी रहा आया हो, वह कुछ भी करे, तो भी उसके लिए कुछ भी नहीं है। योगीश्वर कहीं भी रहे, किसी भी प्रकार से रहे, वह करने योग्य कार्य को छोड़कर न करने वाला कार्य करे तो भी उससे उसे किंचित भी बाधा (रुकावट) नहीं। योगीश्वर अपनी ज्ञान-अग्नि से कर्म-समूह निःशेष भस्म कर डालता है, यह शास्त्र-सम्मत है। इस बारे में बिलकुल शङ्का न रख। प्रज्व-लित अग्नि से कपूर प्रखर ज्ञानाग्नि से उसके कर्म निःशेष जल जाते हैं। योगीश्वर भेद-भावनामय द्वैत-नामक अग्नि से जलाकर भस्म कर डालता है, यह पक्का ज्ञान। इसमें क्या कोई संशय दीखता है? ऊपरी करणों से योगी-श्वर में पुण्य-पाप, इन दोनों की उत्पत्ति नहीं। पुण्य-पाप अपने आपको न जानने वाले मद-मत्सरादिकों से युक्त पुरुषोंके अन्दर ही दिखाई देते हैं। अपने आपको जानने से पहले अमुक को अमुक प्रायश्चित, ऐसा कर्म करना योग्य ही है, परन्तु अपना निजरूप जाने हुए योगी-श्वर में उस प्रकार के कृत्य, उसे योग्य प्राय-श्चित कोई भी कर्म, इनका सम्बन्धगोचर होगा ही नहीं, यह वेद-सम्मत है। योगीश्वर अपने हित चिंतक को हित, अनिष्ट चिंतक को अहित उनका उन्हीं को पाने योग्य करके स्वयं हरदम ही आनन्द में रहकर कैवल्यपदारूढ़ हो जाता है, यह सिद्धान्त है। योगीश्वर को वन्दन करे तो पुण्य-प्राप्ति, निन्दा करे तो महापाप-प्राप्ति होती है, इसे सत्य जान। इसलिए योगीश्वर को तू हर समय ही वन्दना करते रहना। किसी काल में निन्दा मत करना।

महान् व्यक्ति

हरि-गुण-गान-लीन, स्वार्थ भावनायें हीन,
जिनको समान सदा मान अपमान है।
सम्पत्ति में निर्भिमान, विपत्ति में सावधान,
सम्पति औ विपति सदा जिन्हें समान है।
पर-हित में ही ध्यान, दीन-दुखियों में प्रान,
जिनको स्वदेश के हू गौरव को ज्ञान है।
पालें निज धर्म, शुभ कर्म में ही चित राखें,
सद्गुण खानि, ऐसे व्यक्ति ही महान है॥

—श्री मुरारीलाल शर्मा 'शान्त'

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

धर्मार्थ काम मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

धर्म अर्थ काम मोक्ष इनमें से जिस मनुष्य ने एक का भी साधन न किया उसका जन्म बकरी के गले के स्तन समान निरर्थक है ।

× × ×

सोपान भूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात पापतरोऽत्र कः ॥

अति दुर्लभता से प्राप्त यह मनुष्य शरीर मोक्ष पद पाने की सीढ़ी है, जो इसे पाकर आत्मोद्धार नहीं करता उससे अधिक और कौन पापी यहां है ।

× × ×

अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपि कोटिभिः ।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्य सञ्चयात् ॥

इस संसार में जीवों के हजारों व करोड़ों जन्मों के बीतने पर कभी दैवयोग से अनेक जन्म के पुण्य इकट्ठे होने से मनुष्य होता है इससे ऐसा सुयोग पाकर जिसने मोक्ष साधन न किया उसका जन्म वृथा है ।

× × ×

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञान भक्तिभ्यामुभयं तदसाधनम् ॥

जैसे नरकमें रहने वाले पुरुष इस मनुष्य लोक की इच्छा करते है इसी प्रकार स्वर्ग के रहने वाले देवता भी इस मनुष्य देह में जन्म की अभिलाषा करते है । क्योंकि यह मनुष्य लोक ज्ञान भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन होने से श्रेष्ठ है ।

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येव निर्विकारे विकारान्कल्पयत्यसौ ॥

जैसे सोते हुए पुरुष को निद्रा अनेक प्रकार के स्वप्नों की रचना करती है उसी तरह विकार रहित ब्रह्म में स्थित यह माया भी बहुत प्रकार के विकारों की कल्पना कराती है।

× × ×

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्व दर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करुणां बिना ॥

बिना सद्गुरु की कृपा इस लोक और परलोक के सुख रूपी विषयका त्यागना आत्मा का अनुभव और तुरीय अवस्था अर्थात् समाधि का लाभ ये दुर्लभ हैं। इससे सद्गुरु की सेवा में तत्पर हो योगाभ्यास करे जिससे अमरत्व की प्राप्ति सुलभ हो।

× × ×

योगात्सम्प्राप्यते ज्ञान योगाद्धर्मस्य लक्षणम् ।
योगः परं तपोज्ञेयस्तस्माद्युक्तः समभ्यसेत् ॥

योग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, योग से ही धर्म प्राप्त होता है। योग ही परम तप है अतः योग का सतत् अभ्यास करना चाहिए।

× × ×

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
बिना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो, धर्मज्ञ और इन्द्रियजित हो परन्तु योग के बिना देवता भी क्यों न हो—मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाता।

× × ×

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति ॥

आत्मज्ञान से मुक्ति होती है, वह आत्मज्ञान योग के बिना नहीं हो सकता और वह योग चिरकाल के अभ्यास से ही सिद्ध होता है।

योगेश्वर चरित्र माला

—बूढ़े ब्राह्मण पर कृपा

[योग-प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा सवाँई, आगरा के सौजन्य से]

एक बार आनन्द-कन्द योग-योगेश्वर गुरुदेव प्रभु श्री रामलाल जी महाराज नैपाल प्रदेश के हिमालय खण्ड में विचर रहे थे। उस समय उनके साथ सेवार्थ एक बूढ़ा ब्राह्मण भी रहा करता था। वह बूढ़ा ब्राह्मण प्रतिक्षण श्री प्रभुजी की सेवाओं का अभिलाषी था, उसके यह स्वभाव बन गया था कि वह श्रीप्रभु जी के मनोभावों को प्रतिक्षण जानता रहे और जैसी उनकी इच्छा हो, उसी के अनुसार उनकी सभी प्रकार की सेवाओं के लिए तत्पर रहे। उसकी सेवायें इतनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं कि प्रभुजी की सेवामें रहने वाले अन्य सत्संगी भाइयों को किसी सेवा का अवसर ही नहीं मिल पाता था। वे लोग अपनी श्रद्धानुसार भक्तिपूर्वक श्री प्रभुजी के किसी सेवा कार्य में भाग नहीं ले पाने से खिन्न रहते थे। परिणामतः बुड्ढे की सेवाओं को देख कर अन्य सब सत्संगी क्षुभित होकर यह सोचने लगे कि किसी प्रकार यह बुड्ढा कहीं चला जाय तो हम लोगों को भी सेवा का अवसर मिले। उनके मस्तिष्क में कोई ऐसी बात आ ही नहीं पाती थी कि जिससे वह बूढ़ा ब्राह्मण सेवाओं से विलग हो सके।

× × ×

एक दिन सबके मस्तिष्क में एक विचार पैदा हुआ। सबने देखा कि बूढ़ा नित्य प्रति जंगल से कन्दमूल खोदकर एवं मीठे-मीठे फल बीन करके श्री प्रभुजी के भोजनार्थ लाया करता है। इस जंगलमें धौलागिरि नाम की पहाड़ी पर ज्ञानगिरि नामके अघोरी महात्मा निवास किया करते थे। वह अघोर पुरुष की उपासना करते थे और खान-पान में किसी पुरुष को मारकर खा जाना उनके लिए बहुत ही सहज कर्म था। उस बूढ़े ब्राह्मण

के प्रति विपरीत भाव रखने वाले धर्मियों के मन में विचार पैदा हुआ कि क्यों न इस बूढ़े ब्राह्मण को कन्दमूल खोदनेके लिए अघोरी महात्मा ज्ञानगिरि की पहाड़ी पर भेज दिया जाय। वहां जाने पर अघोरी इसे मार डालेगा और इसके मारे जाने पर श्री प्रभुजी की सेवा का सुयोग हमें मिल ही जायेगा। यह युक्ति विचार कर उन सभी लोगों ने उस बूढ़े से कहा कि भाई श्री प्रभुजी के भोजन के लायक कन्दमूल शीशागिरि की पहाड़ी पर मिलते हैं, किन्तु वहां पर ज्ञानगिर अघोरी का साम्राज्य है। अघोरी से बचकर यदि कन्दमूल ला सकते हो तो वहां से ले आओ। वह बूढ़ा ब्राह्मण इनके कपटपूर्ण वचनों को नहीं समझ सका और उत्साह के साथ कहा—भाई मुझे उस अघोरी का भय नहीं है, मैं अभी शीशागिर पहाड़ी पर जाता हूं और वहां से श्री प्रभुजी के भोजनार्थ कन्दमूल खोदकर एवं वृक्षों से उत्तमोत्तम फल तोड़कर शीघ्र ही लेकर आऊंगा। तुम किसी भी प्रकार की शंका मत करो, यह काम मेरा है और मैं इसे अवश्य ही कर आऊंगा। यह कहकर वह बुड्ढा ज्ञानगिर अघोरी से सेवित शीशागिरि पहाड़ी पर चला गया और उत्तम प्रदेश में कन्दमूल देखकर खोदना आरम्भ किया। उसकी इस चेष्टा को अघोरी महात्मा ज्ञानगिर ने देखा और मन ही मन विचार करने लगा कि अहो! दैवयोग से यह बुड्ढा यहां आ पहुँचा है। यह बहुत मोटा ताजा है, मेरा कितने ही दिन का आहार होगा, घर बैठे शिकार मिल गया। ज्योंही अघोरी ज्ञानगिर ऐसा विचार कर रहा था, त्योंही अकस्मात् आकाशवाणी हुई—'अघोरी तुम्हें शिकार अवश्य मिल गया है, किन्तु इसको विचार कर हाथ लगाना और खूब देख लेना यह है किसका।' यह आकाशवाणी सुनकर ज्योंही अघोरी ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह देखने का प्रयास किया, यह कौन है और किसका है? तो उसने श्री प्रभु जी के अखण्ड व्याप्त तेज को देखा और यह भली प्रकार जान लिया कि इसके सर्व समर्थ योगयोगेश्वर इसके रक्षक हैं, इस पर मेरी शक्ति नहीं चल सकती। अतः अब इसको यहां से वरदान देकर भेजना चाहिए, जिससे अघोरियों की मर्यादा का यथावत् पालन हो सके। यह विचार कर अघोरी ने उस बुड्ढे से कहा कि—'आज तू निहाल हो गया है। क्या मांगना चाहता है? हर्ष के साथ मांग ले।' किन्तु उस बूढ़े ब्राह्मण का रंग ही और था। उसने भाव गम्भीर वाणी में पूर्ण निर्भयता-पूर्वक उत्तर दिया—

'अघोरी मांगना हाथ फैलाना यह कंगालों का काम है। मैं शहनशाहों के शहनशाह का बच्चा हूं तुझे कोई जरूरत हो तो तू हौसले से मांग ले। मैं अवश्य ही जो कुछ तू चाहेगा वही तुझे दे सकता हूं। अघोरी को आश्चर्य हुआ कि बुड्ढा मुझे क्या दे सकता है किन्तु साथ

ही ज्योंही उसने अन्तर्दृष्टि (दिव्य-दृष्टि) से देखा तो हर्षोन्मादित हो उठा—अघोरीने देखा कि उस बूढे ब्राह्मण के सिर पर अगाध करुणार्णव श्री प्रभुजी का वरदहस्त है और वह हर्षोल्लास के साथ बूढे से कह रहे हैं बेटा एकबार मुख से निकाल क्या निकालना चाहता है तेरी वाणी मिथ्या नहीं होगी। अघोरी निहाल हो जायेगा। अपनी भीतरी दृष्टि से इस सारे दृश्य को देख करके ज्ञानगिर अघोरी बड़े ही आश्चर्य में पड़ गया और आश्चर्य चित होकर कहने लगा कि भाई ठीक है देने को तू मुझे सब कुछ दे सकता है, किन्तु अघोर मार्ग का यह धर्म नहीं है कि सामने आने पर कोई खाली लौटाया जाय। अतः हमने तुम्हें वाक् सिद्धि और संकल्प सिद्धि दोनों दे दी। वाक् सिद्धि का अर्थ है जो वाणी से कहेगा वही सत्य हो जायगा। और संकल्प सिद्धि का अर्थ है जो मन में विचार करेगा वही हो जायेगा। अघोरी के ऐसा कहने के बाद वह बूढ़ा सरल भाव से वापिस लौट पड़ा किन्तु सारी घटना को उन सभी सत्संगियों ने तत्काल जान लिया वे लोग उस बूढे ब्राह्मण से ईर्षा करने लगे और वह लोग तत्काल उसी ओर चले जिस ओर से बूढ़ा कन्द-मूल लेकर आ रहा था ज्योंही वे सब लोग उन बूढे ब्राह्मणके सन्मुख पहुंचे और कहने लगे भाई बुड्ढे आज तो तू ज्ञानगिर अघोरी से चौरासी लाख योनि ले आया तेरे मुख से जो निकलेगा और जो सोचेगा वही हुआ करेगा। स्वर्ग नर्क रूप लोहे और सोने की बेड़ियां अब तेरे को बांधे रहा करेंगी। इन लोगों की इस प्रकार की बातों को सुन करके बूढे ने जबाव दिया कि भाई जो होना था वह तो हो चुका अब तुम मुझे यह बतलाओ मेरा यह बन्धन किस प्रकार छूटे। उन लोगों ने उत्तर दिया अब जीवन रहते नहीं छूट सकता। बूढे ब्राह्मण ने उन लोगों के निर्णय को सुनकर विचार किया कि शरीर जर्जरीभूत है क्यों न इसको जल्दी से छोड़कर नया शरीर धारण करके पुनः दयानिधि की सेवा में आ जाऊँ जिससे सेवा भी अधिक समय तक हो सके और वाक् सिद्धि संकल्प सिद्धि का भी जंजाल छूट जाये। यह विचार कर वह एक निर्जन जंगल में पहाड़ की चोटी पर देह त्याग की भावना से पहुँच गया। ज्योंही उसने देह त्याग का विचार किया त्योंही वह सर्व शक्तिवान् श्री प्रभुजी भी आकाश मार्ग से झटपट पहुँच गये और उस बूढे ब्राह्मण को कण्ठ से लगा कर कहा—बेटा! तुम ये क्या कर रहे हो उसने उत्तर दिया कि प्रभो! केवल मात्र अघोरी की दी हुई वाक् सिद्धि और संकल्प सिद्धि को समाप्त करने के लिए और इस जर्जरी भूत शरीर को त्यागकर जल्दी ही नया शरीर धारण करके पुनः आपकी सेवा करने की मेरे मन में इच्छा है। श्री प्रभुजी उसके सरल विचारों को सुनकर हँस पड़े और कहा यह कोई बात नहीं है वाक् सिद्धि संकल्प सिद्धि अघोरी ने दे दी और हमने ले ली अब तुम्हारे कहने और सोचने से कुछ नहीं होगा उस बूढे ब्राह्मण की सेवा और उच्चतम भावनाओं को देखकर उन कृपानाथ श्री प्रभुजी का हृदय दयार्द्र हो गया। उसे वहीं पास ही किसी गुफा में ले जा कर समाधिस्त कर दिया। उन कृपानिधि जी के कृपा संकल्प की ही देर थी कि वह बूढ़ा सिद्ध योगिराज के रूप में बदल गया। और प्रभु जी की पूर्ण कृपा को पाकर कृतार्थ हो गया।

❀ 'सिद्धयोग' का दसवाँ वर्ष ❀

हम सबके लिए यह बड़े ही हर्ष का अवसर है कि योगयोगेश्वर महाप्रभु श्रीरामलाल जी परम पावन जयन्ती के अवसर पर जिसे योग प्रशिक्षण-केन्द्र श्री सिद्ध गुफा सवाई के आँगन में सदा-सर्वदा की भाँति अति धूम-धाम से मनाया जा रहा है—'सिद्धयोग' अपने जीवन के नौ वर्ष पूर्ण करके दसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन-मार्ग में जो दुरूहतायें पिछले कुछ वर्षों में आई हैं, 'सिद्धयोग' भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा, किन्तु महाप्रभु जी की कृपा शक्ति और 'सिद्धयोग' के सर्वस्व श्री सद्गुरुदेव जी महाराज के उदारतापूर्ण संरक्षण एवं सक्रिय सहयोग का बल पाकर निरन्तर 'सिद्धयोग' अपने उद्देश्य-पथ पर आगे बढ़ता रहा है यह कम सौभाग्य की बात नहीं है और यह भी कुछ कम महत्त्व तथा सौभाग्य की बात नहीं कि 'सिद्धयोग' को अपने उद्देश्य-पथ पर बढ़ने में जहाँ उपरोक्त सद्गुरुओं की कृपा कोर का आश्रय प्राप्त हुआ है, वहाँ इनके अनगिनती शिष्यों में से बहुतों का सौजन्यपूर्ण सहयोग भी इसे सदा सुलभ रहा है। सहस्राधिक साधक भाई-बहनों ने स्वयं ग्राहक बन कर तथा दूसरों को बनाकर जहाँ इसकी प्रकाशन संख्या को बढ़ाया है वहाँ बहुसंख्यक भाई-बहनों ने अपने विचारपूर्ण लेख, रचनायें और निजानुभूतियाँ भेजकर भी अपने सक्रिय सहयोग का हाथ बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वान लेखकों और सुकवियों ने अपनी सुविचार-पूर्ण सामग्री भेजकर भी 'सिद्धयोग' के प्रकाशन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। अपने उपरोक्त मार्गदर्शकों सहयोगियों, और ग्राहक-अनुग्राहकों के प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उनसे अपेक्षा रखते हैं कि आगे भी उनका मार्ग-दर्शन और कृपापूर्ण सहयोग हमें सदा सुलभ रहेगा।

अन्त में सं० सम्पादक के नाते मैं अपनी त्रुटियों और भूलों के लिए क्षमा-याचना करते हुए 'सिद्धयोग' के प्रेमी ग्राहक, अनुग्राहक भाई-बहनों से यह निवेदन करना भी आवश्यक समझता हूँ कि वे 'सिद्धयोग' के अपने-अपने क्षेत्र से यदि दो-दो, तीन-तीन ग्राहक और बनाकर भेजने की कृपा कर सकें तो इससे 'सिद्धयोग' को उस योग-धर्म के प्रचार-प्रसार में और अधिक बल मिलेगा—जिसकी आज की त्रस्त व्यस्त दुनियां को आवश्यकता है और जिसके प्रचार-प्रसार के लिए श्रीसद्गुरुदेव जी के संरक्षण में आप और हम सब व्रत-संकल्प हैं।

आपका विनम्र:—

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

सं० सम्पादक

श्री 'सिद्ध गुफा' योग प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा प्रकाशित

उपयोगी सत्साहित्य

	पुस्तक	मूल्य
१.	योगासन चित्रपट	२-००
२.	श्री योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की स्वहस्त-लिखित जीवन कथाएँ व सदुपयोग	५-००
३.	योगासन [सचित्र]	४-००
४.	श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी	२-००
५.	योगिराज श्री मुलखराज जी	२-००
६.	आठ योगी	२-००
७.	समाधिस्था योगिनियाँ	२-००
८.	सवाई के चमत्कारिक चरित्र	२-००
९.	मन की एकाग्रता के साधन	१-००
१०.	भोग, रोग और योग	२-००
११.	जीवन तत्त्व साधना	१-००
१२.	यम नियम	१-००
१३.	योग क्या ?	-५०
१४.	योगेश्वर चरितमाला [भजन]	१-००
१५.	श्री महाप्रभु जी का गीत काव्य [कविता]	१-००
१६.	श्री सद्गुरु-संकीर्तन भजनमाला	१-००
१७.	सुधा संगीत	१-००
१८.	इन्दुशर्मा के आठ भजन	-५०
१९.	श्री सद्गुरु-स्तवन [गीतकाव्य]	१-००
२०.	योगामृत-भजनावली	-५०
२१.	जीवन तत्त्व साधन—व्याख्याकार—श्री गिरीशदेव वर्मा	५-००
२२.	सर्व समर्थ गुरुदेव	२-००
२३.	गुरु गीता	१-००
२४.	Practices for Developing THE LIFE FORCE (Jiwan Tattwa Sadhan)	२-००

नोट—उपर्युक्त पुस्तकें मँगाने पर उक्त मूल्य के अतिरिक्त डाक व्यय मँगाने वाले के जिम्मे होगा।

मिलने का पता :—
व्यवस्थापक
श्री सिद्ध गुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (आगरा)

Siddhayoga
Regd No. L. Ag. 108

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

ईश्वर की खोज

ईश्वर को खोजते-खोजते आगे-आगे जायें
तो आखिर ख्याल में आता है
कि वह हृदय में ही है।
इसलिए अब तू बाहरी खोज में मत पड़।
चित्त का विकास कर,
और उसी के अन्दर खोज।
[illegible] चार भुजाओं से सुशोभित वह प्रभु
तुझे हृदय-मंदिर में विराजमान दिखाई देंगे।
विज्ञान का अहङ्कार त्याग कर
उसके चरणों में लोट जा।
चिन्तन के तट पर पहुँचकर निरखा गया वह प्रभु ही,
फिर सहज, शांतिपूर्वक, अनायास दिखाई देता रहेगा।